व्यावसायिक नीति
एवं
सामाजिक उत्तरदायित्व

व्यावसायिक नीति
एवं
सामाजिक उत्तरदायित्व

[व्याख्यानों पर आधारित]

Business Policy and Social Responsibility

डॉ० आर० के० बजाज
एम.ए., एम कॉम., पी-एच.डी.
व्यावसायिक प्रशासन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

साहित्य केन्द्र, जयपुर

TOPICS FOR STUDY

1. Economic and Social Goals of Business. The Law and Doctrine of Social Responsibility. Ethical Standards of Business.
2. Commercial Success of an Enterprise. Profit Motive and Conservation of Natural Resources. Price and Profit Policy. Price Support and Price Control.
3. *Combinations and Monopoly. The Pattern of Public Enterprise.* Control of Public and Private Monopolies, Stability and Efficiency.
4. Social Responsibility of Business in the context of employment and Wage Policy. Welfare Activities. Workers' Participation in Management. Industrial Democracy in theory and practice.
5. Problems of big business. The Volume of Production and Quality Control. Economic Concentration and the Divorce between Ownership and Management. Functionalization of Management and Social Responsibility.
6. The Institution of Patents. Copy Rights and Trade Marks, Brand Monopolies and Fair Competition. The Problems of Standardization.
7. Consumer Tastes, Interests and Grievances. The Organisation of Public Relation Departments of business houses.
8. Businessmen and the State Craft. Social Control of Business Private Right or Public Interests Techniques of Control. Bureaucracy and Business Administrative Ethics.
9. The Problem of Enterpreneurship in the modern business world Growth of enterpreneurial ability and social responsibility under various types of economic systems.
10. Income Distribution and the Problem of Incentive specially in the context of a developing economy. The dovetailing of human attitudes and Business Policy.

PUBLISHED BY SAHITYA KENDRA, JAIPUR
PRINTED AT HEMA PRINTERS, JAIPUR

अनुक्रम

BOOK BANK

1. *Haney, L. H* . Business Organisation and Combination.
2. *Spriegel, W. R.* : Principles of Business Organisation and Operation.
3. *Bonneville Dewey and Kelly* . Organisation and Financing Business.
4. *Drucker, P. F.* : Practice of Management.
5. *Wheeler, Bayard O* : Business–An Introductory Analysis.
6. *Stephenson, J.* : Principles and Practice of Commerce.
7. *Beard, Charles* : The Industrial Revolution.
8. *Knowles, L. C. A.* : Industrial and Commercial Revolution.
9. *E. A. G Robinson* : The Structure of Competitive Industry.
10. *Sargent Florence* : Logic of Industrial Organisations. Investment, Location and Size of Plant.
11. *Beecham, A.* : Economics of Industrial Organisation
12. *Kaplan, A. D H.* : Small Business : Its Place and Problems
13. *M.M. Mehta* : Structure of Indian Industries.
14. *S. C. Kuchhal* : The Industrial Economy of India.
15. *Tousley, Clark and Clark* : Principles of Marketing.
16. *Hepner, H. W.* : Modern Marketing.
17. *Moocarthy* : Basic Marketing.
18. *Phelps, D. M* : Sales Management.
19. *Philips and Duccan* : Marketing Management.
20. *Smallbone Douglas* : The Practice of Marketing.
21. *Hazari, R. K.* : The Private Corporate Sector.

22. *Joshi, L. V.* : The Control of Industry in India.
23. *Kothari, M. L.* : Industrial Combination.
24. *McGregor, D. M.* : Industrial Combination.
25. *Owen, R N.* : Business Organisation and Combination.
26. *Stocking and Watkins* : Monopoly and Free Enterprise.
27. *A R. C.* : Report on Public Sector Undertakings.
28. *Krishna Menon Committee* : Parliamentary Supervision over State Undertakings.
29. *Florence, P. S.* · Logic of British and American Industry.
30. *Khera, S. S.* : Government of India—Business.
31. *Robson, W. A.* : Industry and State.
32. *Shukla, M. C.* : Administrative Problems of Public Enterprises in India.
33. *John M. Clark* : Social Control of Business.
34. *Howard, R. Bowen* : Social Responsibilities of the Business Man.
35. *Arthur H. Cole* : Business Enterprising in Its Social Setting.
36. *Peter, F. Druker* : Big Business.
37. *Fran, H. Kinght* : The Ethics of Competition.
38. *James, C. Worthy* : Business and Free Men.
39. *J. R. Hicks* : The Social Framework.
40. *Clar Wilcok* : Public Policy Towards Business.
41. *Chatterjee, Ravindranath* : Price Control & Rationing in India.
42. *Mukerjee, P. B.* Social Responsibilities of Business.

लाभ इस प्रकार व्यवसायी का प्रतिफल होता है जो एक प्रभावशाली प्रेरणा शक्ति का कार्य करता है। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि व्यवसाय और लाभ का चोली-दामन का सम्बन्ध है तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस सम्बन्ध में सी. एफ. अबाट (C F. Abbott) ने तो यहाँ तक कहा है कि बिना लाभ के व्यवसाय, बिना रस के मुरब्बे के समान है।

व्यवसाय में लाभ कमाने का लक्ष्य रखना निम्न कारणों से भी जरूरी है—सर्वप्रथम, लाभ व्यवसाय की सफलता को नापने का सबसे सरल तथा मान्य मापदण्ड है, व्यवसाय की सुदृढ़ता का सबसे सरल प्रतीक है। द्वितीय, लाभ कमाना इसलिए भी जरूरी है जिससे व्यावसायिक संस्थाएँ अपना अस्तित्व कायम रख सकें। प्रत्येक व्यवसाय में अनेक अनिश्चितताएँ या जोखिमें होती हैं, इन जोखिमों से बचने तथा इनका सामना करने के लिए लाभ कमाना जरूरी है। तृतीय, प्रत्येक व्यवसाय में लाभ कमाना इसलिए भी जरूरी है जिसमें वह व्यवसाय अपने विकास और विस्तार (Growth and Expansion) के लिए आन्तरिक वित्त प्राप्त कर सके। यदि व्यवसाय काफी लाभ कमाता है तो वह लाभ के पृष्ठ विनियोग द्वारा इस लाभ को पुन. व्यापार में लगा सकता है। अन्त में लाभ व्यवसाय की मान्यता व प्रतिष्ठा के प्रतीक होते हैं। समाज में व्यावसायिक उपक्रमों की प्रतिष्ठा लाभ से जुड़ी होती है। प्रोफेसर मेहरचन्द शुक्ल के अनुसार औद्योगिक शान्ति के लिए भी लाभ का होना अनिवार्य है, क्योंकि लाभ के आधार पर ही श्रमिकों को बोनस दिया जाता है और यदि लाभ नहीं हो या कम हो तो औद्योगिक अशान्ति आर्थिक विकास के लिए खतरा उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार लाभ से निजी सम्पत्ति में वृद्धि होती है और निजी सम्पत्ति का जादू रेत को भी स्वर्ण पिण्ड में परिवर्तित कर देता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया में लाभ होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से अनेक विद्वानों ने 'व्यवसाय' को परिभाषित भी किया है। प्रसिद्ध विद्वान जोयलडीन ने तो अधिकाधिक लाभ कमाना ही व्यवसायी का सामाजिक उत्तरदायित्व बताया है। उनके शब्दों में, "प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था में अधिकाधिक लाभ कमाना ही व्यवसायी का मुख्य सामाजिक दायित्व है।"[2]

लेकिन व्यवसाय का लक्ष्य केवल लाभ कमाना ही नहीं हो सकता है। यदि कोई संस्था लाभ कमाना ही अपना एकमात्र उद्देश्य बना लेगी तो वह सफल नहीं हो सकेगी, क्योंकि शीघ्र ही ग्राहक, कर्मचारी व समाज उसके विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द कर देंगे। ग्राहक इसलिए असन्तुष्ट होंगे क्योंकि उनसे अधिक मूल्य लिया गया, और कर्मचारी इसलिए क्योंकि उन्हें न्यायोचित पारिश्रमिक नहीं दिया गया है। समाज ऐसी संस्था के विरुद्ध उसकी शोषणात्मक नीतियों के कारण अपना विरोध प्रकट करेगा और या तो इसके ऊपर नियन्त्रण करने के लिए कदम उठाएगा अथवा

1 "The magic of private property turns sand into gold." —*Charles Abbott*

2 "Maximization of profit is the chief social responsibility of management in a competitive economy" —*Joel Dean*

प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहित करेगा। स्वयं संस्था भी अधिकतम लाभ कमाने की चेष्टा में लाभ के आधार को खो बैठेगी, क्योंकि ऐसी संस्था में कुशलता को कायम रखने या बढाने में कोई कोशिश नहीं की जाएगी बल्कि अकुशलता को बढ़ावा मिलेगा। उर्विक के शब्दों में, 'जिस प्रकार भोजन करना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार लाभ कमाना ही व्यवसाय का एकमात्र लक्ष्य नहीं हो सकता।"[1]

प्रसिद्ध विद्वान पीटर ड्रकर के मतानुसार किसी व्यवसाय की समस्या लाभ को अधिकतम करना नहीं है बल्कि हानि से बचने और आर्थिक क्रिया से उत्पन्न जोखिमों को वहन करने के लिए पर्याप्त लाभ कमाना है। व्यवसाय को इतना लाभ चाहिए जिससे व्यवसाय कायम रहे और इसके साधनों की धन-उत्पादन करने की क्षमता बनी रहे।[2]

लाभ का आधार समाज की सेवा पर रखा जाना चाहिए न कि इसके शोषण पर। सेवा के द्वारा कमाए गए लाभ में स्थायित्व होगा और मान तथा प्रतिष्ठा भी। लेकिन शोषण की नींव पर लाभ कमाना कारोबार को बालू-रेत के मकान की भाँति गिरा देगा। ऐसी परिस्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि लाभ की भावना सामाजिक दायित्व के सिद्धान्त से सदा मर्यादित रहनी चाहिए।[3] यहाँ समाज की सेवा का अभिप्राय यह है कि उन वस्तुओं का उत्पादन व विनिमय करना चाहिए जिनकी समाज को आवश्यकता है, तथा इन वस्तुओं के लिए उतना मूल्य लेना चाहिए जो समाज सुविधानुसार तथा उस वस्तु की उपयोगिता के आधार पर दे सके। इसका अर्थ यह भी है कि संस्था में काम करने वाले कर्मचारियों को न्यायोचित पारिश्रमिक दिया जाए तथा उनके काम करने की दशाएँ सुखमय हों। प्रो. स्प्रिगेल ने भी कहा है "सेवा के माध्यम से लाभ" (Profit Through Service) एक अच्छा सिद्धान्त है और आजकल इसके द्वारा ही लाभ कमाना सम्भव है।'[4]

अतएव व्यवसाय में आर्थिक उद्देश्य का जितना महत्त्व है उससे कई गुना अधिक महत्व सेवा का है, जिसका अभिप्राय यह है कि समाज को सन्तुष्टि प्रदान कर संतोषप्रद लाभ कमाना चाहिए। अमेरिका के सुप्रसिद्ध उद्योगपति हैनरी फोर्ड (Henry ord) के मतानुसार, "व्यवसाय का प्रथम लक्ष्य सेवा तथा द्वितीय लाभ होना चाहिए।" वास्तव में ग्राहक को समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का केन्द्र बिन्दु समझकर उसकी अधिकाधिक सन्तुष्टि का प्रयास करना चाहिए और उसकी सन्तुष्टि से ही लाभ कमाना चाहिए।

1. "Profit can be no more the objective of a business man than eating is the object of living" —*Urwick*.
2. "The problem of any business is not the maximisation of profit but the achievement of sufficient profit to cover the risk of economic activity and thus to avoid loss." —*Peter Drucker*.
3. "Profit motive must always be tempered with social obligations"—*Kimball*
4. "The concept of 'profit through service' is one that is most likely to be realised over a period of time. It is good business and will contribute to the earning of a profit." —*Spriegel*.

लाभ एवं सेवा लक्ष्य ऊपरी तौर से देखने पर तो यह लगता है कि लाभ ग्रौर सेवा दो पृथक्-पृथक् उद्देश्य हैं ग्रौर ये दोनों लक्ष्य एक साथ पूरे नहीं किए जा सकते। किन्तु ग्राजकल के जमाने मे सफल व्यवसायी वह है जो इन दोनो लक्ष्यो को एक साथ पूरा कर सके। लाभ ग्रौर सेवा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, ग्रत. दोनों ही समान रूप से पूरे किए जाने चाहिए। लाभ उद्देश्य के साथ-साथ सेवा उद्देश्य बहुत ग्रावश्यक है। यदि एक व्यवसाय समाज की सेवा को कोई महत्त्व नही देता तो वह ज्यादा समय टिक नही सकेगा, इसी प्रकार यदि कोई व्यवसायी सेवा को ही प्रमुख स्थान देता है ग्रौर लाभ की परवाह नही करता, तो वह भी सफल व्यवसायी नही बन सकता। इन दोनो लक्ष्यों को एक साथ पूरा करना चाहिए। ये दोनो एक दूसरे के विरोधी नही बल्कि पूरक है। इस सन्दर्भ मे डगलस जे (Douglas Jay) ने उचित ही कहा है कि यह सोचना गलत है कि लाभ ग्रौर सेवा उद्देश्य दो प्रतिद्वन्द्वी दुश्मन हैं ग्रौर उन्हें एक दूसरे को समाप्त करना चाहिए।[1]

---

1 "It is crude over simplification to believe that the profit motive and motive of public service are irreconciliable enemies which must destroy the other."
—*Douglas Jay.*

2 सामाजिक दायित्व का नियम एवं सिद्धान्त

(The Law and Doctrine of Social Responsibility)

अठारहवी और उन्नीसवी सदियो मे यूरोप में 'निजी हित' के विचार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। यह वह समय था जब अर्थ-शास्त्रियों ने एक 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना करली थी और उसके व्यवहार को अर्थ-शास्त्र के अध्ययन की कसौटी के रूप मे स्वीकार किया गया था। यह 'आर्थिक मनुष्य' विशुद्ध स्वार्थ के आधार पर सदैव अधिकतम निजी लाभ की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता था। दुर्भाग्यवश, व्यापार के क्षेत्र मे इस 'आर्थिक मनुष्य' का प्रभाव सबसे अधिक पडा। व्यवसायी वर्ग ने इसे अपना आराध्य देव ही बना लिया। वे सदैव अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए प्रयत्नशील रहने लगे, चाहे इसके सामाजिक प्रभाव कुछ भी क्यो न हो। 'कम से कम देकर, अधिक से अधिक प्राप्त करना' उनके लिए प्रमुख सिद्धान्त बन गया। महान् विचारक जार्ज बर्नार्ड शॉ के शब्दो मे,'सोना उनका ईश्वर तथा लाभ उनका प्रमुख लक्ष्य बन गया'।[1]

आर्थिक चिन्तन की इस दूषित और एकांकी प्रणाली ने वर्ग सघर्ष तथा शोषण के ऐसे तत्त्वो को जन्म दिया कि व्यवसाय अपने प्रमुख लक्ष्य से भटक गया और केवल लाभ की भावना ही उसकी दिशा निर्धारक शक्ति बन गई। अनेक बार वह समाज की सेवा की अपेक्षा समाज के शोषण का माध्यम बनने लगा। लाभ का लोभ इतना प्रबल रहा कि इसके मद मे व्यवसायी समाज के प्रति जघन्य से जघन्य अपराध करने लगा। अपनी पूँजी के बल पर अकेले ही बहुत सारा माल इकट्ठा करने लगा और उसे मुँह माँगे दामो पर उपभोक्ताओं को बेचने लगा। इतना ही नही कृत्रिम अभाव पैदा कर जनता से अधिक मूल्य वसूल करना, मिलावट करना, कम तौलना आदि ओछे हथकण्डों का सहारा लेने मे मशगूल हो गया। जिसके परिणामस्वरूप उसने व्यवसाय को तो कलंकित किया ही, लेकिन इससे समाज के विभिन्न वर्गों मे भी व्यावसायिक जगत के प्रति तीव्र असन्तोष को जन्म दिया।

समाज मे इस प्रकार व्यापारी वर्ग के विरुद्ध बढते हुए जन आक्रोश को दृष्टिगत रखते हुए वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे विचारको का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण

1. "Its God is gold and its ambition is profit" —*George Bernard Shaw.*

प्रश्न पर केन्द्रित किया कि क्या सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति के बिना कोई व्यवसाय केवल लाभ के बल-बूते पर फल-फूल सकता है। यह भावना प्रबल होने लगी कि व्यवसाय समाज का ही एक अग है उसका समाज से चोली-दामन जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, बिना समाज के सहयोग के व्यवसाय लाभ अर्जित कर नही सकता। बदलते हुए परिवेश मे यह माना जाने लगा कि व्यवसाय कोई एक निजी स्वामी की सम्पत्ति नही है कोई भी व्यक्ति समाज के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग के बिना किसी सगठन का निर्माण नही कर सकता।[1] कोई भी व्यक्ति निर्जन स्थान मे एकान्त साधना के द्वारा लक्षपति, धनपति और कुबेर नही बन सकता, चाहे वह कितनी ही मेधावी, बुद्धिमान और पराक्रमी क्यो न हो। समाज के बिना वह रह नहीं सकता और उसे पग-पग पर समाज की मदद के लिए निहारना पडता है। जब इतना महत्त्वपूर्ण समाज के व्यवसायी के अभ्युदय मे योगदान है तो भला वह समाज की उपेक्षा कैसे कर सकता है ? उसे समाज के प्रति जिम्मेदार एव सवेदनशील होना पडेगा, अन्यथा समाज उसके विरुद्ध बगावत कर बैठेगा, उसकी फुफकार उसे भस्मीभूत कर बैठेगी।[2]

अत अब पूँजीवादी देशो के साथ-साथ साम्यवादी देशो मे भी इस तथ्य को स्वीकार किया जाने लगा है कि व्यवसायी समाज के सरक्षण से ही फलता फूलता है, उसे अपने आपको समाज का एक प्रमुख अग समझते हुए समाज के विभिन्न सदस्यो के प्रति अपनी जिम्मेदारी का भी अहसास होना चाहिए। उसे कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिए जो सामाजिक ढांचे के वृहद् लक्ष्यो के विपरीत हो। व्यवसाय के अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों से यदि समाज के किसी वर्ग को नुकसान होता है तो ऐसे व्यवसाय का अस्तित्व खतरे मे पड जाएगा।

नि सन्देह व्यावसायिक ढाँचे मे लाभ को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए, परन्तु उसे व्यवसाय का एकमात्र और सर्वोपरि लक्ष्य कदापि नही बनाया जाना चाहिए। यह बात सत्य है कि लाभ व्यावसायिक इकाई की आर्थिक सुदृढता, तथा स्वास्थ्य का प्रमाण, कुशल प्रबन्ध का प्रतीक, आत्मनिर्भरता तथा प्रगति का आधार और पूँजी निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है, परन्तु हमे सदैव यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इससे सम्बन्धित जो विभिन्न पक्ष हैं, क्या हम उनकी अवहेलना तो नही कर रहे हैं। हमारा उनके प्रति भी उत्तरदायित्व है। सच तो यह है कि व्यावसायिक उद्यम एक सामुदायिक ट्रस्ट (Community Trust) के समान है जिसे समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रति अपने दायित्व को ठीक ढग से पूरा करना चाहिए। व्यवसाय के कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक दायित्व निम्नलिखित हैं—

1 स्वय के प्रति दायित्व

(Responsibilities Towards Self)

व्यवसाय का प्रथम दायित्व स्वय के प्रति है। व्यवसाय का उद्देश्य केवल

1 "A business enterprise is an organ of Society" —*Peter F Drucker.*

2 "No person can earn and accumulate huge profit with his own unaided efforts" —*Spriegel.*

वस्तुओं का उत्पादन कर उनका समुचित वितरण ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका कुशलतापूर्वक सचालन भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। व्यावसायिक जगत मे सस्था की प्रतिष्ठा बनाए रखना, उसकी क्षमता का शनै-शनै: विस्तार करना, स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन देना, उचित लाभ अर्जित कर भावी आवश्यकताओं के लिए सचय करना एक व्यवसायी का प्रथम कर्त्तव्य है। ऐसा करने पर ही व्यवसाय फल-फूल सकेगा। प्रोफेसर डेविड के शब्दो मे, व्यवसाय का कुशल सचालन करना, व्यावसायियो का प्रथम दायित्व है।[1] यह दायित्व तभी कुशलतापूर्वक निभाया जा सकता है जबकि उचित 'प्रबन्ध' हो, क्योंकि मानव-शक्ति द्वारा ही साधनो का दोहन किया जा सकेगा, पूँजी जैसे निर्जीव साधन द्वारा नहीं।[2] व्यवसाय का यह दायित्व है कि वह वस्तुओं तथा सेवाओं का जनता के हित के लिए उत्पादन करे तथा उचित मूल्य पर ग्राहकों को देवे।

2. विनियोक्ता वर्ग के प्रति

(*Responsibilities Towards Investors*)

प्रत्येक व्यवसाय को चलाने के लिए कुछ पूँजी की आवश्यकता होती है यह पूँजी स्वय व्यवसाय के स्वामियो द्वारा भी प्रदान की जाती है और अन्य व्यक्तियो, ऋणदाताओं, बैंकरो आदि द्वारा भी। उत्पादन और कारोबार के अन्य साधन इसी पूँजी द्वारा एकत्रित किए जाते हैं। ये पूँजीदाता व्यवसाय से आशा करते हैं कि उन्हे उनकी पूँजी पर उपयुक्त प्रतिफल (Fair Return) दिया जाय, प्रतिफल की दर आकर्षक व स्थिर हो और उनकी पूँजी सुरक्षित रहे तथा उसके मूल्य मे वृद्धि हो। कम्पनी की स्थिति में अशधारियो को कम्पनी की वित्तीय सुदृढ़ता व प्रगति के बारे मे समय-समय पर सही-सही जानकारी भी दी जानी चाहिए।

3. कर्मचारियों के प्रति

(*Responsibilities Towards Employees*)

कर्मचारी व्यावसायिक सस्था के प्राण हैं। सन्तुष्ट कर्मचारी व्यवसाय का तेजी से विकास करने मे सहायक होता है, जबकि असन्तुष्ट कर्मचारी व्यवसाय की प्रगति मे बाधक सिद्ध होता है। अतएव व्यवसायी को अपने कर्मचारियो को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करने का सदैव प्रयास करना चाहिए।

सक्षेप मे व्यवसाय के प्रबन्धको का दायित्व है कि वे कर्मचारियो को अर्थपूर्ण कार्य (Meaningful Work) करने का अवसर प्रदान करें। व्यवसाय अपने कर्मचारियो का हार्दिक सहयोग तभी प्राप्त कर सकता है जब उनके काम करने की दशाएँ अच्छी हो, उन्हे उचित एव न्यायोचित पारिश्रमिक दिया जाय, उनकी नौकरी सुरक्षित हो, उन्हे अपने विकास एवं उत्थान के पर्याप्त अवसर मिलें, उनको समुचित

1 "Operating a successful business is the first responsibility of businessmen."
—*K David*

2. "It must have proper management, for the transmutation of resources can be done by men and not an inanimate resources such as capital."
—*M. C. Shukla.*

मान व सम्मान दिया जाय, उनके साथ मानवीय व सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाए तथा उनकी कठिनाइयों और समस्याओं को ध्यानपूर्वक सुना और समझा जाय। कोई भी संस्था अपने कर्मचारियों के सहयोग के बिना नहीं चल सकती, विशेष रूप से एक बड़ी व्यावसायिक संस्था मे तो यह और भी अधिक जरूरी है। आज के युग में जब श्रम-संघवाद (Trade Unionism) के विकास के कारण कर्मचारियों मे अपने अधिकारो के प्रति जागरूकता बहुत बढ़ गई है और सरकार ने भी उन्हें सरक्षण देना प्रारम्भ कर दिया है, इन कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए व्यवसाय के सचालन मे इनके कल्याण की योजनाओं को प्राथमिक स्थान देना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। यदि कर्मचारी असन्तुष्ट होंगे तो उनकी कुशलता कम हो जाएगी और फलस्वरूप उत्पादकता तथा लाभ दोनों बुरी तरह प्रभावित होंगे। यदि यह असन्तोष विस्फोटक बन गया तो सारा व्यावसायिक कारोबार ठप्प हो सकता है और फलस्वरूप उसका अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जाएगा।

कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए व्यावसायिक संस्था को उनके प्रतिनिधि संघ को मान्यता देनी चाहिए, श्रमिकों के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए, उनकी शिकायत तथा कठिनाइयों का तुरन्त निराकरण करना चाहिए। व्यवसाय की सम्पन्नता मे उन्हें भी उसका लाभ देना चाहिए तथा कल्याण की भिन्न-भिन्न योजनाओं को लागू करना चाहिए। संयुक्त समितियाँ (Joint Councils) का निर्माण कर श्रमिकों से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।

4 ग्राहकों के प्रति
(Responsibilities Towards Customers)

किसी भी व्यावसायिक संस्था का मुख्य ध्येय उपभोक्ताओं को वस्तुएँ व सेवाएँ बेचकर लाभ कमाना है। यह ध्येय तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक जो वस्तुएँ बनाई जाएँ वे उपभोक्ता की अपेक्षाओं के अनुरूप न हों, उन्हें उन मूल्यों पर सुलभ न कराया जाय जो उपभोक्ता उन वस्तुओं के लिए देने के लिए तैयार हो। सुप्रसिद्ध उद्योगपति फोर्ड के अनुसार केवल धन के पीछे भागना व्यवसाय नहीं है।[1] उसके अनुसार व्यवसाय का प्रमुख उद्देश्य ग्राहकों की आवश्यकताओं को ठीक ढंग से समझकर, उन्हें सही वस्तुएँ उपलब्ध कराना है। आधुनिक युग के प्रमुख प्रबन्ध पण्डित पीटर ड्रकर के अनुसार तो व्यावसायिक लक्ष्य की एक ही मान्य परिभाषा है—ग्राहक बनना .... ग्राहक ही यह निर्णय करता है कि व्यवसाय क्या है.......... ग्राहक ही व्यवसाय की आधार-शिला है और उसके अस्तित्व को कायम रखता है... .... और ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही समाज व्यावसायिक उद्यम को धनोत्पादन के साधन प्रदान करता है।[2]

1 "Money chasing is not business" —*Ford*

2 "There is only one valid definition of business purpose ; to create a customer .. ..It is the customer whose determines what a business is........The customer is the foundation of business and keeps it in existence......And it is to supply the customers that society entrusts wealth producing resources to the business enterprise." —*Drucker*

व्यवसाय का यह दायित्व है कि वह उपभोक्ताओं को न केवल सही वस्तु, उचित मूल्यों पर सुलभ कराए बल्कि माल की किस्म में निरन्तर सुधार करे, इसमें मिलावट आदि दोषों से बचे, उनकी लागत को निरन्तर घटाने की चेष्टा करे तथा झूठे और मिथ्या वर्णन वाले विज्ञापन देकर ग्राहकों को ठगने का प्रयास नहीं करे। इसके साथ ही साथ माल की सुरक्षा एवं स्वच्छता की दृष्टि से उत्तम पैकिंग करना चाहिए तथा जमाखोरी से अनुचित लाभ कमाने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

5. पूर्तिकर्त्ताओं के प्रति
(*Responsibilities Towards Suppliers*)

पूर्तिकर्त्ताओं से आशय उन पक्षकारों से है जो व्यवसाय के काम में आने वाले कच्चे माल, मशीनें तथा औजार, कार्यालय के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ अथवा अन्य सामग्रियों की पूर्ति करते हैं। ऐसे पक्षकारों के प्रति भी व्यवसाय के कुछ उत्तरदायित्व हैं जैसे—उनके द्वारा दी गई वस्तुओं का उचित मूल्य चुकाना, नए उत्पादों को प्रस्तुत करने का सुअवसर प्रदान करना, बाजार में वस्तुओं के अभाव को देखते हुए उनकी कठिनाइयों को सुनना और उन्हें दूर करने मे सक्रिय सहयोग प्रदान करना, दूसरे पूर्तिकर्त्ताओं को भी अपने माल को प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करना, व्यापार की शर्तों के अनुसार माल का शीघ्र भुगतान करना, ग्राहकों की रुचि आदतों एवं फैशन में होने वाले परिवर्तनों से समय-समय पर परिचित कराते रहना आदि-आदि।

6. समुदाय के प्रति दायित्व
(*Responsibilities Towards Society*)

व्यवसाय समुदाय का एक अंग है, अतः इसे समुदाय के प्रति भी अपने दायित्वों की ओर सजग रहना चाहिए। व्यवसायी समाज के विभिन्न साधनों जैसे हवा, पानी, कच्चा माल, श्रम आदि का उपयोग करता है। बड़ी-बड़ी चिमनियों की गंदी हवा से सारा वातावरण दूषित होता है, कारखाने का गन्दा पानी आसपास के वातावरण को दुर्गन्ध-युक्त बनाता है। यदि व्यवसायी इन साधनों का इस प्रकार दुरुपयोग करने को अपना अधिकार समझता है तो उसका स्थानीय जन-समुदाय के प्रति कुछ उत्तरदायित्व भी है। प्रसिद्ध उद्योगपति श्री टाटा के अनुसार प्रत्येक उपक्रम का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने साधनों का प्रयोग करते समय आसपास की जनता की सुख-सुविधा का भी ध्यान रखे। दूसरे शब्दों में, व्यवसाय का यह उत्तरदायित्व है कि उसे वहाँ के निवासियों को नागरिक व्यावधान जैसे औद्योगिक गन्दगी, शोर, कलह आदि से बचाना चाहिए तथा सामाजिक विकास की दिशा में सहयोग देना चाहिए। वहाँ के निवासियों के कल्याण के लिए जनोपयोगी कार्य जैसे अस्पताल, धर्मशालाएँ, स्कूल, पार्क हाथ में लेने चाहिए। उसे ऐसे प्रयत्न करने चाहिए जिससे व्यावसायिक स्थिति में स्थायित्व व विकास आए और उसके साथ समाज की प्रगति करे। व्यवसाय-उपक्रम का इस प्रकार प्रबन्ध हो कि उसकी उन्नति से जनता का भी कल्याण

हो। श्री वी० के० आर० वी० राव के अनुसार उस समुदाय के सदस्यो को रोजगार के पर्याप्त अवसर प्रदान करना भी व्यवसाय का उत्तरदायित्व है।[1]

7. सरकार के प्रति दायित्व

(Responsibilities Towards Government)

व्यवसाय का स्थानीय, राज्य एव देश की सरकार के प्रति भी कुछ दायित्व है। सरकार व्यवसाय को कई प्रकार की सहायता देने के अलावा संरक्षण भी प्रदान करती है। अतएव सरकार के प्रति व्यवसाय को अपना सामाजिक उत्तरदायित्व पूरा करने मे निम्न बातो का विशेष रूप से पालन करना चाहिए—(i) विभिन्न प्रकार के सरकारी करो का नियमित रूप से भुगतान करते रहना चाहिए और टैक्स चोरी नहीं करनी चाहिए, (ii) मिलावट एव चोरबाजारी रोकने मे सरकार का पूरा साथ देना चाहिए, (iii) देश के सच्चे नागरिक की भाँति सरकारी नियमो का पूर्णतः पालन करना चाहिए और सरकार द्वारा निर्धारित व्यापार नीति का अनुसरण करना चाहिए, (iv) व्यक्तिगत हितो के लिए सरकारी कर्मचारियो को रिश्वत देकर पथ-भ्रष्ट नही करना चाहिए, और (v) देश के आर्थिक विकास मे सक्रिय सहयोग प्रदान करना चाहिए।

भारतीय व्यवसायियों का सामाजिक दायित्व : एक मूल्यांकन

(Social Responsibilities of Indian Businessmen : An Evaluation)

आर्थिक दृष्टि से विकसित देशो-सयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, जापान आदि-मे जनमत व्यावसायिक-वर्ग के सामाजिक दायित्व के बारे मे काफी जाग्रत होने लगा है, वहाँ की सरकारों ने भी इस दिशा मे प्रभावशाली कदम उठाए हैं। वहाँ के औद्योगिक एवं व्यापारिक समाज को भी इस ओर सोचने तथा अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न करने को बाध्य होना पडा है। कई व्यावसायिक सगठनो ने अपने सदस्यो के लिए आचार सहिता (Code of Conduct) का निर्माण किया है जिनका पालन प्रत्येक सदस्य-व्यवसायी स्वेच्छा से करता है और इस प्रकार वहाँ सामाजिक दायित्व के निर्वाह करने की दशा मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

लेकिन यह अत्यन्त दुख की बात है कि हमारे देश में व्यापक आधार पर सामाजिक दायित्व की भावना का विकास व्यावसायिक क्षेत्र मे नहीं हुआ है और हम अमेरिका जापान मे कोसों दूर हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमने उद्योग व्यवसाय के कलेवर मे अभूतपूर्व गति से वृद्धि की है, परन्तु हमने सामाजिक दायित्व की भावना की बिल्कुल अवहेलना भी की है और ऐसा लगता है कि 'आर्थिक मनुष्य' की उपासना हमारे यहाँ का व्यवसायी वर्ग छोड़ना ही नहीं चाहता। समय और युग के अनुसार उदात्त सामाजिक हितो के अनुरूप व्यावसायिक क्रिया-कलापों को नए-नए *आयाम प्रदान करने की बात तो दूर रही, हमारे व्यावसायिक समाज का एक बडा* हिस्सा तो व्यवसाय के सर्वमान्य सिद्धान्तो की उपेक्षा करने मे तनिक संकोच का

1. "The business enterprise should be so managed as to make public good become the private good of the enterprise." —*Peter Drucker*

इन्दिरा गाँधी ने भी कहा था, "हमने निजी साहस को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। हम चाहते हैं वह फले-फूले। लेकिन उसे ऐसे अनुशासन का पालन करना चाहिए जो कि राष्ट्रीय नैतिक मानकों के अनुरूप हो।"[1]

देश के महान् सामाजिक नेता श्री जयप्रकाश नारायण तथा अन्य विचारकों ने भी भारतीय व्यवसायी वर्ग का ध्यान उसके उत्तरदायित्वों के प्रति आकर्षित किया है। दिल्ली में देश के विद्वानों की एक सम्पन्न विचार-गोष्ठी व्यवसाय के विभिन्न पक्षों का निरीक्षण करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँची कि "प्रत्येक प्रकार का उपक्रम चाहे वह बडे पैमाने पर हो अथवा छोटे, यदि उसे विश्वास एवं सम्मान प्राप्त करना है तो उसे केवल एक या दो वर्गों जैसे अंशधारियों अथवा श्रमिकों के प्रति नहीं बल्कि *सम्पूर्ण समुदाय तथा उपभोक्ताओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाना होगा।*"[2]

देश के सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री जी. डी. बिडला ने भी व्यवसायियों को गहन चेतावनी देते हुए पूना मे कहा कि "यदि व्यवसायियों ने देश की जनता के कल्याण की ओर ध्यान न दिया तो उनकी भी कोई परवाह नहीं करेगा।"एक अन्य उद्योगपति और फेडरेशन ऑफ चेम्बर ऑफ कामर्स (FICI) के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री एम. एम. मगलदास ने अभी हाल ही मे कहा कि व्यवसायियों को अपने दायित्वों को समझकर उनका पालन करना चाहिए। प्रसिद्ध प्रबन्ध विशेषज्ञ डॉ. आर. सी. कपूर ने भी भारतीय व्यवसायियों को राय देते हुए परामर्श दिया कि "एक चतुर व्यवसायी को व्यवसाय करते समय सामाजिक कार्यों को नहीं भूलना चाहिए।"

इसी क्रम मे भारतीय व्यवसायी जगत को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन कराने की दृष्टि से अमेरिका की National Better Business Bureau की तरह उचित व्यापारिक पद्धति पार्षद (Fair Trade Practices Association) की स्थापना भी की गई है, जिसमे एक 9 सूत्री-आचार संहिता का निर्माण किया गया है जिसका पालन करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है।

अतः भारतीय व्यवसायी वर्ग को जिसने एक लम्बे समय तक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना की है, अब इसे अपने जीवन मे उतारना चाहिए। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक व्यवसायी को किसी कार्य करने से पूर्व उक्त कार्य को निम्न तीन सामान्य सिद्धान्तो की कसौटी पर कसना चाहिए। यदि वे इस कसौटी पर खरे उतरते हैं, तब तो उन्हें करना चाहिए अन्यथा उनका परित्याग कर देना चहिए—(1) क्या यह सत्य है? (2) क्या यह समस्त सम्बन्धित पक्षकारो के लिए उचित (Fair) है? क्या इससे व्यवसाय की ख्याति बढ़ेगी? इस नीति का यदि भारतीय व्यवसायी पालन करेंगे तब ही उनका व्यवसाय पुष्पित, पल्लवित तथा फलित हो सकेगा अन्यथा सामाजिक असन्तोष की तीव्र ज्वाला उसे सदा के लिए भस्मीभूत कर देगी।

---

1. "We have given an important place to private enterprise, we want it to flourish but it should confrom of business practices to certain standards of national ethics" —*Smt. Indira Gandhi*
2. Report on Seminar on Social Responsibilities of Business.

3 व्यवसाय के नैतिक स्तर

(Ethical Standards of Business)

नैतिकता मानव के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में अपने साथियों के प्रति व्यक्तिगत आचरण व कर्त्तव्य की ओर इंगित करती है अर्थात् मानव सम्बन्धो मे क्या सही है, क्या गलत है, इसका अध्ययन ही नैतिकता है। 'समूह' या 'समाज' में सही और गलत की विचारधारा लोगों की धार्मिक श्रद्धा और विश्वास से निकट का सम्बन्ध रखती है। प्रायः लोग नैतिकता को धर्म ही मान बैठते है, वे कहते हैं कि नैतिकता तो धर्म की बात है। परन्तु वास्तव में देखा जाए तो दोनो बिल्कुल भिन्न हैं। धर्म मे हम ईश्वर को मानें अथवा नही, स्वयं को मानें अथवा नही, परन्तु नैतिकता पर सब धर्म एकमत हैं। कोई किसी भी धर्म को माने या नही माने, लेकिन सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि आदमी को सदैव सत्य बोलना चाहिए, उसका आचरण शुद्ध होना चाहिए। आचार्य तुलसी के अनुसार धर्म कुछ नही है, नैतिक आचरण ही धर्म है। जिस अच्छाई को हम सोच-समझ कर धारण करें वही धर्म है। हमारे विवेक में यह शक्ति होनी चाहिए कि हम निर्णय कर सकें कि क्या सही है और क्या गलत है?

व्यावसायिक नैतिकता व्यवसायी तथा प्रबन्धक के सामाजिक उत्तरदायित्व को सम्बोधित करती है। इसका अर्थ यह है कि व्यवसायी को अपने प्रतिदिन के व्यवहार मे सच्चाई का व्यवहार करना चाहिए। डॉ विलियम आर स्प्रिगेल के अनुसार, "व्यावसायिक आचार नीति कानूनी विचारों की अपेक्षा दार्शनिक विचारो पर अधिक जोर देती है और आध्यात्मिक-क्रिया सम्बन्धी (Theological) विचारों की अपेक्षा चरित्र (Moral) पर अधिक जोर देती है। वे कहते है धार्मिक दबावो का यह जीवन नही है जबकि व्यक्तियों का भाग्य ईश्वर के सभी विश्वासों मे निषेधक है, या उन्हें अस्वीकार करते हैं। मानव व्यवहार मे इस प्रकार के व्यक्तिगत सही और गलत विचार धार्मिक विश्वासों से युक्त लोगों के जिनसे वे सम्बन्धित है, परिवार के रीति-रिवाज व परम्परा के सिद्धान्तों से प्रभावित होता है।"

व्यावसायिक कार्यों में नैतिकता के सिद्धान्त को अपनाते हुए व्यावसायिक नैतिकता का विकास किया गया है जिनसे व्यवसायी मार्ग-दर्शित होता है। व्यावसायिक

नैतिकता यह कहती है कि उपभोक्ताओं, कर्मचारियों, पूर्तिकर्त्ताओं, प्रतिस्पर्धियों और अन्य सम्बन्धित पक्षों के साथ उचित व्यवहार करें। महात्मा गांधी ने भी 'जीओ और जीने दो' (Live and Let Live) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

इतिहास और अनुभव यही बताते हैं कि व्यवसाय तब तक प्रगति नहीं कर सकता जब तक कि ठोस व्यावसायिक नैतिकता के प्रभाव स्थापित नहीं किए जाएँ। व्यवसायी को यह जान लेना चाहिए कि 'ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति है' (Honesty is the Best Policy)। कुछ समय के लिए कुछ व्यक्तियों को धोखा दिया जा सकता है, लेकिन सब समय के लिए सभी व्यक्तियों को धोखा नहीं दिया जा सकता। हमें केवल आर्थिक उन्नति ही नहीं करनी है वरन् सामाजिक न्याय की स्थापना तथा नैतिक मूल्यों की रक्षा पर भी समान रूप से ध्यान देना है।

व्यवसाय का विकास रिक्तता के वातावरण में नहीं होता। वह नैतिक और सामाजिक मूल्यों को प्रभावित करता है और उनसे बहुत अधिक प्रभावित भी होता है। इसलिए कुशल व्यवसायी को चाहिए कि वह उचित परिप्रेक्ष्य में समाज में अपने सम्बन्धों को समझे और उनको एक उद्देश्यपूर्ण आधार प्रदान करे। व्यावसायिक नैतिकता एक विश्वव्यापी समस्या है।

सार्वजनिक कानून (Civil Law) व्यावसायिक क्रियाओं के व्यवहार को तब तक नहीं चला सकते जब तक कि वे नैतिकता के मोरेल नियमों से समर्थित नहीं हों। लोक कानून की रीति यह नहीं कहती कि सभी दशाओं में मोरेल नियम लागू होंगे। जिस प्रकार मोरेल-लॉ मानव के व्यक्तिगत सदाचार पर आधारित है, उसी प्रकार व्यवसायी के मार्ग पर व्यावसायिक नैतिकता कुछ सदाचारों को लेकर आती है जैसे सच्चाई, न्याय, दृढ़ता (Persistence), उत्साह, मितव्ययता, विश्व-प्रेम इत्यादि।

आधुनिक व्यावसायिक नैतिकता का विकास
(Evolution of Modern Business Ethics)

गत वर्षों में बहुत से लोगों ने धार्मिक विश्वास को देखा है जो आज के कार्यकारी दिनों में उपयोग में लाने योग्य है, लेकिन रोजाना के व्यावसायिक सम्बन्धों में नहीं। यूरोप में मध्य काल में जैसा आज देखा जाता है, वैसा नहीं था। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अत्यन्त सीमित अवस्था में था। सम्पूर्ण व्यवसाय व्यक्तियों के हाथों में था, जिनमें (Christian) समुदाय शामिल नहीं था। यद्यपि वस्तुओं का विनिमय दोनों पक्षों के लिए लाभकारी था, लेकिन इस पर कोई खास जोर नहीं दिया जाता था। विनिमय में यह सामान्य विचार था कि एक के खर्चे पर दूसरे को लाभ होता है। उपयोग के लिए वस्तुओं की खरीद, आचार-नीति प्रभाव के अनुरूप थी, लेकिन लाभ पर पुनः विक्रय के लिए वस्तुओं की खरीद चरित्र (Moral), ईमानदारी के अनुरूप न थी, इसका कारण यह था कि Medieval Europe में वाणिज्य का अधिकांश भाग Non-christians के हाथों में था।

लेकिन समय के साथ-साथ लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, धार्मिक मान्यताओं के साथ-साथ व्यावसायिक क्रियाएँ भी बदलने लगी। लोगों ने यह सोचना

शुरू किया कि लाभ कमाना व्यवसायी का उद्देश्य होना चाहिए, लेकिन "लाभ सेवा" (*Profit Service*) की भावना समाज मे लाभ और ख्याति की स्थापना करती है, इस विचार ने व्यवसाय मे सामाजिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को जन्म दिया। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के दौरान विश्व मे व्यवसायी जगत ने पुन: इस भावना का परित्याग कर दिया और अधिक से अधिक लाभ कमाने मे लीन हो गए। व्यवसायी वर्ग के इस प्रकार के आचरण को राजनीतिज्ञों व समाज-सुधारकों ने बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा। कुछ समय के पश्चात् 1930 की विश्वव्यापी मन्दी ने व्यवसायी वर्ग को पुन: सेवा भावना अपनाने के सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य कर दिया। अब तो सर्वत्र व्यवसाय-आचार नीति ज्ञान बड़ी तेजी से दुनियां के कोने-कोने मे विकसित हो रहा है।

जहां तक भारत का प्रश्न है हमारे आचार-नीति-प्रमाप बहुत अच्छे हैं। पाश्चात्य देश भारत के दार्शनिक विचारों से प्रभावित हैं और उनका अनुसरण करने की चेष्टा कर रहे हैं। सामान्य रूप से हमारे यहां ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति मानी जाती है। यह सत्य है कि सफल व्यवसाय उच्चाधिकारी (Magnets) जैसे टाटा, बिड़ला, डालमिया आदि अब समाज की सेवा व उसके प्रतिउपकार की ओर देखने लगे हैं, लेकिन यह उन्होंने तब सोचना प्रारम्भ किया जबकि वे औद्योगिक एम्पायर बन चुके थे और भारी लाभ एकत्र कर लिया था।

अब पुन. भारतीय व्यवसायी अपनी आचार-संहिता को भूल गया है। भारत मे व्यापारी वर्ग द्वारा जिन बुरे तरीकों का सहारा लिया जा रहा है, उसकी गणना असम्भव सी है। आए दिन नई-नई चालाकियाँ देखने में आ रही है। एकाधिकार की स्थापना, स्वस्थ-प्रतिस्पर्द्धा की रोकथाम, अत्यधिक कीमतें, खराब किस्म, मिलावट, कम-तोल, धोखा-धड़ी, कृत्रिम-कमी झूठे विज्ञापन आदि सभी का उद्देश्य बिना समाज सेवा किए लाभ हड़प लेना है। क्या यह आचरण-संहिता किसी प्रकार भी उचित ठहराई जा सकती है ? येन-केन-प्रकारेण लाभ को अधिकतम करने का लक्ष्य दूषित, समाज-विरोधी और सर्वथा त्याज्य है।

लाभ की उत्पत्ति और उसका उपभोग—दोनों ही सामाजिक आचरण-संहिता के नियमों से अनुशासित होने चाहिएँ। यह भारत जैसे अर्द्ध-विकसित राष्ट्र के लिए बहुत आवश्यक है। आचार्य रजनीश का यह कथन काफी सही है कि भारतीय व्यवसायी वर्ग को अपनी व्यावसायिक आचार-संहिता मे जन कल्याण और सेवा को प्रमुख स्थान देना चाहिए।

4 एक उपक्रम की व्यावसायिक सफलता

(Commercial Success of an Enterprise)

आज का व्यवसाय उतना ही जटिल है जितना कि आज का जीवन । ग्राहकों की दिन-प्रतिदिन पल-पल मे बदलती हुई रुचियाँ, व्यवसाय के क्षेत्र में प्रतिपल बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा, सरकार की नीतियो मे आने वाले आकस्मिक परिवर्तन, ये सब ऐसी बातें हैं कि जरा-सी असावधानी व्यवसाय को गड्ढे मे ढकेल सकती है । हानि साहस की कमर तोड देता है और व्यवसायी के आत्म-विश्वास को डगा देती है । परिणाम-स्वरूप व्यवसायी साहस खो बैठता है और अधिक चिन्तन तथा परिश्रम नही कर पाता। इस प्रकार वह विनाश से सर्वनाश की ओर अग्रसर होने लगता है । अत. व्यवसाय को आरम्भ करना और उसमे सफलता प्राप्त करना आसान नही है । मार्शल ने ठीक ही कहा है कि यह फूलो की शैय्या नही है।[1] व्यावसायिक सफलता पाने के लिए कुछ आधारभूत तत्त्व है जिन पर गम्भीरतापूर्वक मनन और चिन्तन किया जाना चाहिए, जिनमे से कुछ इस प्रकार है—

(1) लक्ष्य निर्धारण (Determination of Objectives)—व्यवसाय की सफलता का पहला तत्त्व है-लक्ष्य निर्धारण अर्थात् यह निश्चय करना कि उस व्यवसाय की स्थापना किस लक्ष्य की सिद्धि के लिए की जा रही है, वह व्यवसाय समाज की किस प्रकार सेवा करेगा तथा किन वस्तुओ का उत्पादन करेगा ? उदाहरणार्थ एक प्रकाशन सस्था को सबसे पहले यह निर्णय करना होगा कि वह केवल पाठ्य-पुस्तको का ही प्रकाशन करे अथवा सामान्य पुस्तको का भी । साथ ही, यह भी निश्चय करना होगा कि इन पुस्तको का प्रकाशन किस भाषा मे किया जाए। प्रमुख लक्ष्य के निश्चित हो जाने के बाद उस सस्था को यह पता लगाना होगा कि उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कौन-कौन से कार्य करने होगे । उदाहरणार्थ एक नई प्रकाशन सस्था प्रकाशन के साथ कई अन्य कार्य कर सकती है जैसे नए लेखकों को अवसर देना, नई प्रतिभाओ की खोज करना, आदि ।

1 "It is not a bed of roses." —*Marshall*

(2) उपयुक्त संगठन का नियोजन और उसकी स्थापना (Planning and Setting up of a Proper Organisation)—लक्ष्य को दृष्टि में रखकर व्यवसाय का गठन और उसका भावी कार्यक्रम निश्चित करना व्यावसायिक सफलता का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यही दूरदर्शिता नियोजन कहलाती है। व्यवसाय स्वरूपी शरीर के हाथ हैं उसके कर्मचारी, और इसलिए कर्मचारियों को नियुक्त करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे कुशल, अनुभवी तथा अपने पद के उपयुक्त हों। प्रतिभा-सम्पन्न कर्मचारी ही व्यवसाय के प्राण होते हैं क्योंकि निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि व्यवसाय का काम सुचारू रूप से चलता रहे। संगठन की सफलता में उचित उपकरण और साज-सज्जा (Proper Equipment) का भी अपना स्थान है। व्यावसायिक योजना बन जाने के पश्चात् अगला काम है व्यवसाय का संगठन स्वरूप क्या हो? अर्थात् वह एकल स्वामित्व संस्था, साझेदारी या कम्पनी में से क्या होगी? आजकल कम्पनी स्वरूप बड़ा लोकप्रिय हो रहा है।

(3) पर्याप्त वित्त (Adequate Finance)—वित्त व्यवसाय का जीवन-रक्त है। इसको व्यवसाय में वही महत्ता है जो मशीन में ऊर्जा (Power) की। अतः व्यवसायी को पूँजी की पर्याप्त मात्रा और उसे प्राप्त करने के साधनों पर आवश्यक ध्यान देना चाहिए। संस्था की पूँजी आवश्यकताओं का सही-सही अनुमान लगाकर उसे भिन्न-भिन्न साधनों से प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। सर्वोत्तम साधन कौनसा होगा, यह व्यवसाय की प्रवृत्ति और पूँजी बाजार के वातावरण पर निर्भर करेगा।

(4) उपयुक्त व्यावसायिक स्थल, ले-आउट तथा आकार (Proper Business Location, Lay-out and Size)—औद्योगिक संस्था की सफलता के लिए यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि कारखाना किस स्थान पर लगाया जाए तथा उसका ले-आउट कैसा हो। यह सब व्यवसाय के उद्देश्य और साधनों पर निर्भर रहता है। स्थल का चुनाव करते समय कुछ आर्थिक साधन भी महत्त्व रखते हैं—जैसे कच्चे माल की उपलब्धता, सस्ती शक्ति के साधन, सस्ता एवं कुशल श्रमिक, पर्याप्त परिवहन एवं विकसित संदेशवाहन के साधन।

(5) शोध की सुविधाएँ (Facilities for Research)—व्यवसाय विकास, विस्तार और परिवर्तन का माध्यम है। यह तभी सम्भव है जब व्यवसाय नव-प्रवर्तन (Innovation) को स्वीकार करे। नव-प्रवर्तन से अभिप्राय: यह है कि वर्तमान कार्य-प्रणाली में सुधार हो, उत्पादन श्रेष्ठतर बने तथा नवीन वस्तुओं का आविष्कार हो। इस सबके लिए शोध की आवश्यकता पड़ती है। जब तक नए-नए सुधारों का पता नहीं लगेगा और उन्हें व्यावहारिक रूप नहीं दिया जाएगा, तब तक नव-प्रवर्तन सम्भव नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि व्यवसाय के शोध-सुविधाओं की व्यवस्था की जाय।

(6) कुशल प्रबन्ध (Efficient Management)—व्यवसाय के कुशल प्रबन्ध पर ही व्यवसाय की सफलता का स्वप्न आधारित है। कुशल प्रबन्ध व्यवसाय में नियोजित कर्मचारियों के कुशलतापूर्वक कार्य करने से सम्बन्धित होता है। पिछले पचास वर्षों में प्रबन्ध एक विज्ञान बन गया है और व्यवसाय की सफलता का आधार स्तम्भ समझा जाने लगा है। कुशल प्रबन्ध निम्न बातों पर निर्भर रहता है—(क) नेतृत्व के गुण, (ब) तुरन्त निर्णय लेने की क्षमता, (स) व्यावसायिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी। इन गुणों के लिए यह आवश्यक है कि व्यवसायी में कुछ आवश्यक गुण हों जिनमें चरित्र बल, साहस भावना और प्रभावी व्यक्तित्व प्रमुख हैं। प्रो० डावर के अनुसार व्यवसाय की समृद्धि के पथ पर वह व्यवसायी आगे बढ़ सकता है जिसका अपना व्यक्तित्व विकसित हो, जिसमें व्यवहार कुशलता, सहिष्णुता, स्पष्टता, माधुर्य, निश्छलता (ईमानदारी), अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति सहानुभूति व सद्भावना आदि चरित्रगत विशेषताएँ भी हों।

लाभ की भावना एवं प्राकृतिक साधनों का संरक्षीकरण
(Profit Motive & Conservation of Natural Resources)

किसी भी देश का औद्योगीकरण मुख्य रूप से तीन तत्वों पर निर्भर करता है-(अ) प्राकृतिक ससाधन,(ब) मानवीय साधन, तथा (स) मानव निर्मित साधन। इन तीनो साधनो की एक देश मे जितनी अधिक मात्रा उपलब्ध होगी और उनको जितने अधिक वैज्ञानिक एव विवेकपूर्ण ढग से उपयोग किया जाएगा, उस देश का औद्योगिक व आर्थिक विकास उतना ही ज्यादा होगा। प्रो० आर्थर लुइस के मतानुसार, "एक देश के साधनो की मात्रा स्पष्ट रूप से उसके विकास की मात्रा एव गति पर एक सीमा है। ये ससाधन सही अर्थों मे विकास का मार्ग निर्धारित करते हैं। ये ऐसे घटक हैं जिनको मानवीय मस्तिष्क द्वारा स्वीकार किए जाने पर विकास की गति तीव्र होने लगती है।"[1]

प्राकृतिक साधनो का अर्थ व स्वरूप

प्राकृतिक साधनो से हमारा अभिप्राय जल, थल व नभ में पाई जाने वाली उन सभी भौतिक अभौतिक अथवा नैसर्गिक वस्तुओ से होता है जो प्रकृति की ओर से एक देश को उपहार के रूप मे प्राप्त होती हैं। किसी देश मे उपलब्ध होने वाली भूमि, खनिज पदार्थ, जल सम्पदा, वन, सम्पत्ति वर्षा-एव जलवायु, भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक बन्दरगाह इत्यादि उस देश के प्राकृतिक साधन माने जाएँगे। प्रसिद्ध भू-गर्भ शास्त्री एरिक जिमरमैन के अनुसार प्राकृतिक ससाधन मनुष्य के भौतिक वातावरण के वे भाग होते हैं जिनसे वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु साधन प्राप्त करता है।

स्पष्ट है कि प्राकृतिक साधन कोई निश्चित भण्डार नहीं बल्कि एक प्रवाह की भाँति हैं जो प्रकृति, जलवायु व साधनो के किए गए विदोहन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप परिवर्तित होता रहता है। प्राकृतिक साधन एक निश्चित भौतिक मात्रा व भण्डार से कहीं अधिक है,इनकी मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि इनका उपयोग व विदोहन किस गति से व तकनीक के किस स्तर के आधार पर किया जा रहा है।

1. Quoted by *Adamantios* in Economic Development, p 26.

आम तौर से यह माना जाता है कि जिस देश के पास जितने अधिक प्राकृतिक साधन होगे उस देश का आर्थिक विकास उतना ही अधिक होगा। वास्तव मे यह पूर्णतया सही नही है। आर्थिक विकास हेतु प्राकृतिक साधनो की बाहुल्यता ही पर्याप्त नही बल्कि उनका उचित ढंग म विदोहन आवश्यक है। उदाहरण के लिए स्विट्जरलैण्ड व जापान के प्राकृतिक साधन कम होने पर भी ये आज देश के सर्वाधिक विकसित राष्ट्र माने जाते हैं। इसके विपरीत भारत, लेटिन अमेरिका व अफ्रीका के कुछ देशो मे प्राकृतिक साधनो के भण्डार होते हुए भी आज भी वे पिछड़े हुए हैं। प्राकृतिक साधनो का अर्थ सदैव उनके उपयोग, विदोहन व तकनीकी ज्ञान के स्तर के आधार पर लगाया जाता है। प्रो० डब्ल्यू० आर्थर लुइस का इस सम्बन्ध मे कहना है कि जब किसी देश को प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से धनी कह कर सम्बोधित किया जाता है तो उसका वास्तविक अर्थ साधनो के विदोहन करने के तकनीकी ज्ञान के स्तर के रूप मे ही लिया जाता है। इस प्रकार वर्तमान समय मे साधनो की दृष्टि से निर्धन समझा जाने वाला राष्ट्र आने वाले समय मे धनी कहला सकता है। किसी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति मे होने वाला यह परिवर्तन अज्ञात प्राकृतिक साधनो की खोज के कारण नही बल्कि ज्ञात साधनो को नवीन व वैज्ञानिक ढग से उपयोग करने के कारण होता है।

प्राकृतिक साधनों का संरक्षीकरण एवं औद्योगिक विकास

(Conservation of Natural Resources and Industrial Development)

किसी भी देश के आर्थिक व औद्योगिक विकास मे प्राकृतिक साधनों का विशेष स्थान है। प्राकृतिक साधन नव-निर्माण के वह आधार स्तम्भ हैं जिस पर विकास की नीव रखी जाती है। वर्तमान समय मे ही नही बल्कि प्राचीन काल से ही प्राकृतिक साधनो का आर्थिक सम्पन्नता से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यहाँ तक की विश्व प्रसिद्ध सभ्यताओं व संस्कृतियो के निर्माण का श्रेय मिट्टियो व जलवायु की विभिन्नता को दिया जाता है। उद्योगो को कच्ची सामग्री, खेतों को पानी, मशीनो को चिकनाहट, विकास को गति, व्यक्ति को भोजन व देश को राजनैतिक व आर्थिक सुरक्षा प्राकृतिक साधनो से ही सम्भव हो सकी है।

सर हेनरी क्ले का कहना है कि "भौतिक संस्कृति की प्रगति का उद्गम स्रोत विकसित शक्ति के साधनो मे ही निहित है।"

रिचार्ड टी० गिल (Richard T Gill) के शब्दो मे, "जनसख्या एवं श्रम की पूर्ति की भाँति प्राकृतिक साधन भी एक देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं; उपजाऊ भूमि व जल के अभाव मे कृषि का विकास नहीं हो पाता; लोहा, इस्पात, कोयला व अन्य खनिज साधनो के न होने से तीव्र औद्योगीकरण *का स्वप्न अधूरा ही रहेगा; जलवायु व भौगोलिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता के* कारण आर्थिक क्रियाओ के विस्तार मे अवरोध उत्पन्न होगे। वास्तव मे प्राकृतिक साधनो का किसी देश के आर्थिक विकास को सीमित करने अथवा प्रोत्साहित करने में निर्णायक स्थान होता है।"

अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, तथा रूस जैसे देशो की आर्थिक सम्पन्नता का एक मात्र कारण इन देशो मे प्राकृतिक साधनो की अधिकता है। प्रो० लुइस का मत है कि प्राकृतिक साधन विकास का मार्ग निर्धारित करते हैं। विश्व के आर्थिक विकास का इतिहास प्राकृतिक साधनों से जुडा हुआ है। इसमे कोई सदेह नही कि किसी अर्थ-व्यवस्था का विकास अथवा उत्पादन उसकी मिट्टियों, वनो, कोयला, लोहा, तेल, पानी व अन्य कार्बनिक एव अकार्बनिक पदार्थों की मात्रा पर निर्भर करता है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि प्राकृतिक साधनो के अभाव में औद्योगिक प्रगति सम्भव ही न हो सकती हो। विश्व के दो देश स्विट्जरलैण्ड व जापान इस सत्य के उदाहरण हैं। प्रकृति की कम अनुकम्पा होने पर भी इन देशो ने अपने तकनीकी ज्ञान, दृष्टि निश्चय, ऊँचा चरित्र, विकास की आकाँक्षा और आत्म-विकास के बल पर आर्थिक प्रगति करके यह सिद्ध कर दिया कि विकास हेतु प्राकृतिक साधन आवश्यक हैं, किन्तु अनिवार्य नही।

साधनों के संरक्षीकरण के विभिन्न सिद्धान्त
(*Various Principles of Resources' Conservation*)

किसी भी देश की प्राकृतिक सम्पदा का अनाप-शनाप ढग से उपयोग नही होना चाहिए, क्योंकि इस सम्पदा की मात्रा प्राय: सीमित होती है और इसी के प्रयोग पर आने वाली सन्तानें भी जीवित रहेगी। अत. हमे इन साधनों का अत्यन्त मितव्ययतापूर्वक उपयोग करना चाहिए।

किसी भी देश के प्राकृतिक साधनों का विकास व विदोहन निम्नलिखित सिद्धान्तो के आधार पर ही किया जाना चाहिए। यद्यपि यह सिद्धान्त विकसित एव अर्द्ध-विकसित दोनो ही प्रकार के देशो के लिए प्रतिपादित किए गए हैं। फिर भी स्थानीय विशेषताओं के आधार पर सिद्धान्तों के स्वरूप मे थोड़ा बहुत परिवर्तन किया जा सकता है।

1. बहूद्देश्यीय विकास सिद्धान्त (Multipurpose Development Principle)—प्राकृतिक साधनों का विकास विभिन्न उद्देश्यो को एक साथ दृष्टि मे रखकर करना चाहिए। उदाहरण के लिए बहूद्देश्यीय नदी घाटी योजना के अन्तर्गत, सिंचाई, यातायात, बाढ नियन्त्रण, विद्युत उत्पादन व भूमि सरक्षण आदि को एक साथ शामिल करना बहूद्देश्यीय विकास के अन्तर्गत आएगा।

2. क्षेत्रीय समन्वयीकरण का सिद्धान्त (Area Integration Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार साधनो का विकास क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओ के अनुरूप होना चाहिए। दूसरे शब्दों मे, साधनो के विकास की जो भी योजना तैयार की जाए वह उस क्षेत्र विशेष के लिए सर्वथा उपयुक्त हो। सक्षेप मे क्षेत्र की आवश्यकता व परियोजना के लाभों मे समन्वय होना चाहिए।

3 निरन्तर उपयोग का सिद्धान्त (Principle of Sustained Use)—सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक साधनो का वाञ्छित विकास यथाशक्ति इस ढग से किया जाना चाहिए कि साधनो का प्राविधिक व आर्थिक दृष्टिकोण से उच्चस्तरीय

उपयोग अनिश्चित काल तक किया जा सके। ध्यान रहे यह सिद्धान्त कभी न समाप्त होने वाले साधनो जैसे भूमि, जल आदि पर विशेष रूप से लागू होता है।

4. न्यूनतम अपव्यय का सिद्धान्त (Principle of Minimum Waste)—यह सिद्धान्त सर्वव्यापी सिद्धान्त है जिसे आर्थिक विकास के सभी निर्धारित तत्त्वों के उपयोग के संदर्भ मे लागू *किया जाना चाहिए। प्राकृतिक साधनो विशेषकर खनिज* पदार्थ जैसे समाप्त होने वाले साधनो मे इस सिद्धान्त के अनुसार काम करना विशेष महत्त्व रखता है। साधनों का विकास व उपयोग इस प्रकार किया जाए कि उनका कम से कम अपव्यय हो। उदाहरण के लिए खानो को बिना खोदे छोड देना, उन्हें खोदते समय खनिज पदार्थों को अनावश्यक रूप से नष्ट होने देना या उनका अर्द्ध-शोषण करना आदि साधनों का अपव्यय माना जाएगा। न्यूनतम अपव्यय सिद्धान्त के अनुसार *कार्य करने के लिए आवश्यक है कि अछूते साधनो का उपयोग किया* जाए, विदोहन की नई प्रणालियो का विकास किया जाए। सस्ते तथा स्थानापन्न वस्तुओ की खोज की जाए तथा उत्पन्न होने वाले बाई-प्रोडक्ट का उचित ढग से प्रयोग किया जाए, साधनो को नष्ट न होने देना व उनको कम से कम लागत पर प्राप्त करना ही इस सिद्धान्त का मुख्य आशय है।

5 लाभ का व्यापक वितरण सिद्धान्त (Wide Diffusion of Benefit Principle)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक साधनो का उपयोग व विकास का लाभ अधिक से अधिक लोगो को मिल सके ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिए। निजी स्वामित्व के अन्तर्गत आने वाले प्राकृतिक साधनो के लाभो को प्रगतिशील करारोपण और प्रत्यक्ष करो द्वारा विकेन्द्रित करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है ताकि यह लाभ एक ही वर्ग विशेष को न मिलता रहे।

6. मितव्ययता का सिद्धान्त (Economy Principle)—*यहाँ मितव्ययता* का अर्थ, कुल लाभ की अधिकतम प्राप्ति के रूप मे लिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार साधनो का उपयोग व विकास मितव्ययता के आधार पर इस प्रकार किया जाना चाहिए कि कुल शुद्ध लाभ अधिकतम हो सके व न्यूनतम लागत कम आ सके। नि सन्देह यह सिद्धान्त एक आदर्श सिद्धान्त है, परन्तु इसे व्यावहारिक रूप देना कठिन है। इसका कारण है विकास परियोजना का लागत लाभ विश्लेषण करते *समय अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। फलस्वरूप योजना की वास्तविक* लागत व शुद्ध लाभ सही-सही मालूम नही हो सकता।

7. आर्थिक स्थायित्व बनाए रखने का सिद्धान्त (Principle of Maintaining Economic Stability)—इस सिद्धान्त का उद्देश्य अर्थ-व्यवस्था मे उत्पन्न आर्थिक उतार चढाव जैसे तेजी मन्दी को रोकना है। विकसित एव अर्द्ध-विकसित देशों मे आने वाले व्यापार चक्रो को सीमित करने के लिए प्राकृतिक साधनो का उपयोग व विकास इस ढग से किया जाना चाहिए कि समस्या का उपयुक्त समाधान होने के साथ-साथ अन्य प्रकार का असन्तुलन उत्पन्न न हो पाए। ध्यान रहे इस सिद्धान्त को लागू करते

मूल्य तथा लाभ नीति : मूल्य सहारा तथा मूल्य नियन्त्रण

(Price and Profit Policy : Price Support and Price Control)

किसी वस्तु का सही मूल्य क्या हो यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। व्यवसायी अपनी वस्तु या सेवाओं के लिए जो प्रतिफल उपभोक्ता से वसूल करता है, उसे मूल्य के नाम से जाना जाता है। वस्तु या उत्पादों के सही मूल्य निर्धारण पर उसकी *कुल बिक्री, व्यवसाय का हानि-लाभ तथा सफलता-असफलता निर्भर करती है। सही* मूल्य निर्धारण उपक्रम को सफलता की चोटी पर तथा त्रुटिपूर्ण मूल्य निर्धारण उसे विनाश के गर्त मे पहुँचा सकता है। अत मूल्य नीति एक सफल व्यवसायी का प्रमुख कार्य समझा जाता है। उपक्रम के उच्चतम अधिकारी ही उसकी सामान्य मूल्य-नीति का निर्धारण करते हैं तथा प्रत्येक उत्पाद का अलग-अलग मूल्य निर्धारित करने मे भी अत्यधिक सावधानी बरती जाती है।

मूल्य सदैव उपक्रम के हित मे ही हो, यही पर्याप्त नही है। इस युग मे कोई भी व्यवसायी उपभोक्ताओं की भलाई तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य की अवहेलना नही कर सकता। उत्पाद अच्छी किस्म के, उपयोगी तथा उपभोक्ताओं की रुचि के अनुकूल तो होने ही चाहिएँ, साथ ही उनका मूल्य भी उचित होना चाहिए। यह उसका एक सामाजिक उत्तरदायित्व है।

मूल्य तथा लाभ नीति प्रभावित करने वाले घटक

(Factors Affecting Price and Profit Policy)

उत्पादकों को अपने उत्पादों का विक्रय-मूल्य निर्धारित करते समय निम्नलिखित घटकों को अवश्य ध्यान में रखना होता है, अथवा दूसरे शब्दो मे निम्नलिखित घटक उत्पादों के मूल्य एव लाभ नीति को प्रभावित करते हैं—

1. उत्पाद की लागत (Cost of Product)—साधारणतया उत्पाद कुल लागत से कम मूल्य पर नही बेचे जाते। कोई भी व्यवसायी अपने उत्पादों को हानि पर बेचना नहीं चाहेगा तथा अधिक समय तक किसी उत्पाद के हानि पर बिकने का अर्थ होगा उत्पाद की असफलता और यदि किसी उपक्रम के अधिकांश उत्पाद लागत मूल्य से कम पर बिकते हैं तो उस उपक्रम का पतन होने मे अधिक समय नही लगेगा।

है, कम मूल्य पर बेचकर उनके लिए ग्राहकों मे रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके विपरीत, महँगी कलात्मक सामग्रियाँ उत्पादन लागत से कहीं अधिक मूल्य पर बेची जानी चाहिएँ, क्योंकि इनकी बिक्री कम होती है तथा इनके सम्बन्ध में विक्रेता को असाधारण जोखिम उठानी पडती है।

4. अन्य उत्पादकों एवं समान उत्पादों की प्रतियोगिता (**Competition from other Products and Similar Products**)—युद्ध प्रतियोगिता के अभाव के बावजूद भी मूल्य निर्धारण करते समय समान उत्पादों अथवा उत्पादों के अन्य सम्भावी विक्रेताओं की प्रतियोगिता की अवहेलना नहीं की जा सकती। वस्तु का मूल्य और लाभ निर्धारित करते समय यह ध्यान मे रखना चाहिए कि समान उत्पादों के लिए प्रतियोगी उत्पादन कितना मूल्य ले रहे हैं। यह भी जानने का प्रयास किया जाना चाहिए कि प्रतियोगी उत्पादकों को उत्पादों की लागत क्या पडती है।

5. माल की किस्म एवं उपयोगिता (**Quality and Utility Service value of Products**)—किसी उत्पाद की माँग स्थायी तभी हो सकती है जब वह अच्छी किस्म का तथा ग्राहकों के लिए उपयोगी हो। किन्तु किस्म तथा उपयोगिता प्रत्यक्ष हो सकती है अथवा काल्पनिक। सम्भावी ग्राहकों को यदि किसी उत्पाद के बारे मे बार-बार सोचने के लिए प्रेरित किया जाए तो उनकी दृष्टि मे उक्त उत्पाद की उपयोगिता निश्चित रूप से बढ जाएगी तथा वे उसके लिए अधिक मूल्य देने को तैयार हो जाएँगे।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मूल्य नीति निर्धारण करने मे इन पाँचों घटको का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यवसायी को इन्हें दृष्टिगत रखते हुए अपने लाभ की सीमा निर्धारित करनी चाहिए। लाभ कमाना व्यवसाय को जीवित रखने के लिए अति आवश्यक है और यह भी सही है कि लाभ-वृत्ति के अभाव मे व्यवसाय ज्यादा दिन नही चल सकेगा, परन्तु लाभ-वृत्ति को लोभ-वृत्ति मे परिणत कर शोषण नहीं करना चाहिए। नफाखोरी (Profiteering) लोभवृत्ति का परिणाम मात्र है और यह एक घोर सामाजिक अपराध है। प्रत्येक स्थिति मे लाभ कमाना कोई अच्छा कार्य नहीं हो सकता। ऐसी शोषण वृत्ति से व्यवसाय की समूची ख्याति नष्ट हो सकती है। ग्राहकों की विवशता का लाभ उठाकर अनुचित लाभ कमाना मुनाफाखोरी है जो एक उचित मूल्य नीति के लिए घातक है।

इसके साथ ही हमे लागत को भी कम करने का सदैव प्रयास करना चाहिए। इसके लिए कार्य कुशलता (Efficiency) को बढाना अनिवार्य है, यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो प्रतिस्पर्द्धा के इस युग मे पीछे रह जाएँगे। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि मितव्ययता द्वारा भी लागत मे कमी की जा सकती है। प्रसिद्ध प्रबन्ध पण्डित ड्रकर के अनुसार नवाचार (Innovation) द्वारा भी लागत मे काफी कमी की जा सकती है। उनका कहना है कि कीमत मे कमी करने के लिए व्यवसाय को लगातार नवाचार की ओर ध्यान देना चाहिए। नवाचार का अर्थ है—नई वस्तुएँ बनाना, उत्पादन प्रक्रिया में सुधार करना, अधिक उपयोगी तथा किफायती वस्तुएँ बनाना,

वस्तुओं को नए ढंग से पेश करना, पुरानी वस्तुओं के लिए नए उपयोग ढूँढ़ना, ग्राहकों की आवश्यकताओं को अधिक श्रेष्ठ ढंग से सन्तुष्ट करना आदि आदि। आज के प्रतिस्पर्द्धापूर्ण व्यावसायिक जगत मे कोई भी संस्था तभी अपने अस्तित्व को कायम रख सकती है जब वह दूसरी संस्थाओं से अलग कोई विशिष्ट सेवा सुविधा या किफायत उपलब्ध कराए। इसके लिए शोध (Research) की जरूरत पड़ती है। वह संस्था जो इसमें रुचि नहीं लेती शीघ्र ही सफलता की दौड़ में पिछड़ जाती है और अपने अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर लेती है।

मूल्य सहारा एवं मूल्य नियन्त्रण
(Price Support and Price Control)

बाजार में सदैव किसी वस्तु का मूल्य एकसा नहीं रहता, कभी ज्यादा माँग हो जाने पर उसकी कीमत में एकाएक वृद्धि हो जाती है तो कभी माँग के घट जाने पर नीचे मूल्य पर वस्तु बाजार में बिकती है और कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि उपभोक्ताओं को मुँह माँगे मूल्य पर वस्तु खरीदनी पड़ती है। जब बाजार में मन्दी का दौर होता है उस समय विक्रेताओं की हालत बड़ी विकट हो जाती है, उन्हें घाटा उठाकर अपनी वस्तु को बेचना पड़ता है, चूँकि ज्यादा समय तक वो अपना माल को रोके रह नहीं सकते। ऐसी स्थिति में कई कमजोर इकाइयाँ बन्द भी हो जाती हैं। इस स्थिति को बचाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप का होना अनिवार्य है, ऐसे प्रयत्न किए जाने चाहिएँ जिससे मूल्यों को राहत मिले, अन्यथा भाव और गिरेंगे और व्यापार चौपट हो जाएगा। सरकार ऐसी अवस्था में करों में छूट देती है, सरकार द्वारा बड़ी मात्रा में माल खरीदा जाता है और निर्यात को प्रोत्साहन देने के प्रयास किए जाते हैं। इसके अलावा बैंक दर भी घटा दी जाती है। कभी-कभी सरकार गिरते हुए मूल्यों को रोकने की दृष्टि से क्षेत्रों का विभाजन (Zonalisation) भी कर देती है, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में किसी वस्तु के लाने, ले जाने पर अंकुश लगा दिया जाता है, फलतः मूल्य को स्थिर रखने में बल मिलता है। इसके अलावा प्रोफेसर हिक्स (Prof. Hicks) ने निम्न कदम भी सुझाए हैं जो मूल्य सहारा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं—

प्रो. हिक्स का मत है कि केन्द्रीय अधिकोष द्वारा मौद्रिक प्रयास यथा अधिकोष दर (Bank-rate), वचन-अनुपात, अग्रहार दर आदि में उचित समायोजन किए जाने चाहिएँ। इसका अप्रत्यक्ष रूप से मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। उनका कहना है कि कभी कभी उद्योगों को तकनीकी एवं वित्तीय सहायता भी गिरते मूल्यों को रोकने में योगदान प्रदान करती है। कभी-कभी राष्ट्रीयकरण द्वारा आर्थिक सन्तुलन हेतु प्रयास भी गिरते भावों के दूषित प्रभावों को रोकने में काफी सहायक सिद्ध हुए हैं। इससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है।

उक्त दशा के विपरीत जब बाजार में किसी वस्तु के भाव अनाप-शनाप बढ़ने लगते हैं, किसी वस्तु का एकाएक अभाव हो जाता है और व्यवसायी-वर्ग अधिक मुनाफे के लालच में माल का संग्रह (Hoarding) करना प्रारम्भ कर देते हैं तो उस

समय उपभोक्ता वर्ग को काफी परेशानी का सामना करना पड़ता है। बाजार में वस्तुओं का अभाव हो जाता है या कर दिया जाता है और बिचारे उपभोक्ता को मुँह माँगा मूल्य चुकाना पड़ता है। समाज में इसके कारण सर्वत्र असन्तोष व्याप्त हो जाता है। यद्यपि इसमें व्यवसायी वर्ग को अधिक लाभ कमाने का अवसर मिल जाता है, लेकिन आम जनता की मुसीबतें बढ़ जाती हैं फलस्वरूप सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है। बढ़ते हुए भावों को रोकने और उपलब्ध वस्तुओं का उचित रूप से वितरण कराने की दृष्टि से सरकार मूल्य नियन्त्रण (Price Control) का सहारा लेती है। इस प्रकार Price Support और Price Control एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं। जब भाव गिरते हैं तब सरकार उन्हें रोकने के लिए जो कदम उठाती है, वह मूल्य सहारा के अन्तर्गत आता है, किन्तु तेजी से बढ़ते हुए भावों पर नियन्त्रण करने के लिए सरकार जो कदम उठाती है वह मूल्य नियन्त्रण के नाम से जाने जाते हैं। अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र में मूल्य नियन्त्रण की बजाए मूल्य सहारा पर विशेष बल दिया जाता है।

ऐसी परिस्थिति में सरकार द्वारा भावों को रोकने के लिए कई कदम उठाए जाते हैं, सरकार विशेष प्रकार की वस्तुओं के अधिकतम भाव निर्धारित कर देती है, उससे अधिक मूल्य वसूल करना कानूनी अपराध समझा जाता है। इसके लिए सरकार उस वस्तु की कीमत आँकती है और उसमें उचित मुनाफा जोड़कर विक्रय मूल्य घोषित कर देती है। हमारे देश में ऐसा सन् 1947 में हुआ था। इस समय भी कई वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रण सरकार ने कर रखा है जैसे कई प्रकार की दवाइयाँ,लोहा, सीमेन्ट, मोटा कपड़ा (Coarse Cloth) आदि आदि। मूल्य निर्धारित करते समय *सरकार उत्पादन लागत (Cost of Production) को सदैव दृष्टिगत रखती है।*

मूल्य नियन्त्रण होने पर सरकार के सामने एक विकट समस्या भी आती है वह है वितरण की। चूँकि बाजार में वस्तुओं का अभाव होता है, चोरबाजारी (Blackmarketing) का बोलबाला रहता है, इसलिए जनता को उचित मूल्य पर वह वस्तु सुलभ हो जाए इसके लिए सरकार को कारगर उपाय ढूँढने पड़ते हैं। विद्वानों का इस सम्बन्ध में कहना है कि मूल्य नियन्त्रण की सफलता के लिए अच्छी वितरण प्रणाली (Good Public Distribution System) का अपनाना आवश्यक है। इसके लिए Rationing कर दिया जाता है और जगह-जगह उचित मूल्य की दुकानें (Fair Price Shops) खोली जाती हैं। इन दुकानों से जनता को दी जाने वाली वस्तु की मात्रा भी निश्चित कर दी जाती है ताकि कोई अनाप-शनाप संग्रह (Hoarding) नहीं कर सके। सरकार द्वारा काला बाजार (Blackmarketing) को रोकने के भी प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसके लिए कुशल और ईमानदार(*Efficient* and Honest) निरीक्षण मशीनरी (Inspection Machinery) की आवश्यकता होती है।

इसके अलावा सरकार उत्पादन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से कई प्रकार की छूट व सुविधाएँ भी उद्योगपतियों को प्रदान करती है। कभी-कभी कृत्रिम अभाव

को दूर करने की दृष्टि से विदेशों से भी उस वस्तु का भारी मात्रा मे आयात करना पड़ता है।

नियन्त्रण की सीमा अथवा मात्रा
(Extent or Degree of Control)

जहाँ तक नियन्त्रण की सीमा अथवा मात्रा का प्रश्न है अनेक प्रकार के घटक मिलकर नियन्त्रण की मात्रा को निर्धारित करते हैं। प्रो० एफ० ज्विग के मतानुसार किसी अर्थ-व्यवस्था मे नियन्त्रणो की मात्रा उस देश मे नियोजन के उद्देश्य की प्रकृति, उद्देश्यों का क्षेत्र, नियोजन के स्वरूप, आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की अवस्था, जन सहयोग, आन्तरिक साधनो की उपलब्धता, भुगतान सन्तुलन की स्थिति तथा औद्योगिक सरचना के स्वरूप आदि पर निर्भर करती हैं।[1] संक्षेप मे किसी देश विशेष मे नियन्त्रण की मात्रा क्या हो ? वास्तव मे, यह उस देश की आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अत निरपेक्ष रूप मे नियन्त्रण की सीमा का निर्धारण करना स्वय मे एक कठिन कार्य है। प्रो० बोल्डिंग का भी कहना है कि "Control is therefore, a local problem confronting a particular economy."

कौनसे क्षेत्र नियन्त्रण के लिए अधिक उपयुक्त हैं ?

प्रो० ज्विग के मतानुसार, "यह आवश्यक नहीं कि अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों अथवा वर्गों पर नियन्त्रण लगाए जाएँ तथा सभी नियन्त्रण समान मात्रा मे हो, बल्कि नियन्त्रण की उपयुक्तता केवल उन्ही क्षेत्रो के लिए होती है जो नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे जाते हों।" एक पूर्णतया नियोजित *अर्थ-व्यवस्था मे भी नियन्त्रण लगाते समय क्षेत्रो एवं वर्गों का चुनाव करना पड़ता* है। एक ऐसा वर्ग जो अल्प जनसख्या को प्रभावित करता है अनियन्त्रित छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इससे अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप निर्माण पर कोई प्रभाव नहीं पडता हैं। इसके विपरीत केवल उन्हीं वर्गों व क्षेत्रों को नियन्त्रित किया जाना चाहिए जो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप निर्माण करने मे प्रधान रूप से भाग लेते हैं अथवा राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से आर्थिक साधनो के उपभोग का क्रम निर्धारित करते हैं।

प्रो० ज्विग के शब्दों मे, "*Only those levers must be controlled which give the economy its shape or which determine the use of the economic resources of a country or region as a whole*"

एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे प्रतिरक्षा उद्योग, आधारभूत उद्योग, यातायात व संचार तथा खनिज व खान उद्योग आदि क्षेत्र पूर्णतया नियन्त्रित होने चाहिए। इसके विपरीत कम आवश्यक उद्योगो को अनियन्त्रित छोड़ा जा सकता है। सत्यता तो यह है कि नियन्त्रण प्रक्रिया मे समय और आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना पड़ता हैं। *किस क्षेत्र का तथा उसका कितनी मात्रा में नियन्त्रण किया जाए, यह तत्कालीन* परिस्थितियों व समय विशेष की दशाओ पर निर्भर करता है।

1. *F. Zweig* :The Planning of Free Societies.

नियमन एवं नियन्त्रण की विधियाँ
(Mode of Regulation and Methods of Control)

राज्य आर्थिक एवं औद्योगिक क्रियाओं पर दो प्रकार से नियन्त्रण लगा सकता है—

(अ) प्रत्यक्ष नियन्त्रण (*Direct Control*)

प्रत्यक्ष नियन्त्रण वे नियन्त्रण होते हैं जिन्हें नियोजन सत्ता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से आदेश देकर लागू किया जाता है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण स्वभाव से ही कठोर प्रकृति के होते हैं तथा इन्हें आज्ञामूलक नियोजन के समरूप समझा जाता है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण दो प्रकार के होते हैं—

(*i*) धनात्मक आदेश (**Positive Orders**)—जब सरकार द्वारा किसी कार्य विशेष के "किए जाने" (To do a thing) के लिए आदेश दिए जाते हैं तो उसे धनात्मक आदेश कहते हैं। उदाहरणार्थ-पिछले वर्षों में भारत सरकार ने सूती कपड़ा मिल मालिकों को यह आदेश दिया था कि वे अपने कुल उत्पादन का 40% भाग मोटे कपड़े व सस्ते कपड़े के रूप में उत्पादित करें, ताकि निर्धन जनता की *कपड़े की माँग को पूरा किया जा सके। वास्तव में यह धनात्मक आदेश के रूप में* लगाया गया प्रत्यक्ष नियन्त्रण ही था।

(ii) नकारात्मक आदेश (**Negative Orders**)—जब सरकार किसी कार्य विशेष के "न किए जाने" (Not to do a thing) के सम्बन्ध में कोई आदेश देती है तो उसे नकारात्मक आदेश कहते हैं। स्मरण रहे, नकारात्मक आदेशों का स्वभाव धनात्मक आदेशों के विपरीत होना है जबकि ये दोनों प्रकार के आदेश प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए दिल्ली तथा 40 मील की परिधि में आने वाले सभी क्षेत्रों में मई से जुलाई तक कोई भी व्यक्ति दूध का प्रयोग पीने के अलावा किसी अन्य रूप में जैसे मिठाई, मावा, पनीर आदि बनाने के लिए नहीं कर सकता है। इस नकारात्मक आदेश का वास्तविक उद्देश्य इन तीन महीनों में दूध की स्वाभाविक कमी को नियन्त्रित उपभोग द्वारा पूरा करना है।

प्रत्यक्ष नियन्त्रण कब लागू किए जाएँ?—प्रत्यक्ष नियन्त्रण कुछ विशेष प्रकार की दशाओं में ही प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं, जैसे (i) युद्धकालीन परिस्थितियों में, (ii) मुद्रा स्फीतिक दशाओं को नियन्त्रित करने के लिए, (iii) अगर आर्थिक विकास का लक्ष्य शीघ्र प्राप्त करना है, (iv) अल्पकालीन नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु, तथा (v) प्रत्यक्ष नियन्त्रण सम्बन्धित आदेश तभी दिए जाने चाहिए *जब नियोजन सत्ता को सम्पूर्ण स्थिति की पूर्व जानकारी हो। प्रो० मिसेज पी० फ्लोरी* के मतानुसार "A direction can profitably be issued only where the directing authority already knows or can through the machinery or direction discover, what need to be done."

7 संयोजन, एकाधिकार एवं उसका नियन्त्रण
(Combination, Monopoly and its Control)

संयोजन
(Combination)

जब दो या दो से अधिक व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने प्रयत्नों को संयुक्त एवं संयोजित कर लिया जाता है तब वह *व्यावसायिक संयोजन का रूप बन जाता है।* प्रो० हैने (Haney) के शब्दों में, "संयोजित होने का अर्थ केवल किसी पूर्णाकार का एक भाग बनना है और संयोजन का अर्थ कुछ सार्व उद्देश्यों (Common Purpose) की पूर्ति के लिए व्यक्तियों का एक पूर्णाकार या समुदाय के रूप में संगठित होना है।"[1] यह संयोजन स्थायी भी हो सकता है और अस्थायी भी, पूर्ण भी और अपूर्ण भी, लेकिन सबका उद्देश्य या तो व्यावसायिक संस्थाओं के अस्तित्व की रक्षा करना या उसे विकसित एवं विस्तृत करना होता है।

संयोजन के अनेक कारण हैं जिनमें प्रमुख हैं— (1) कटु प्रतिस्पर्द्धा, (2) बड़े पैमाने के संगठन के लाभ, (3) एकाधिकार शक्ति, (4) व्यवसाय चक्र, (5) प्रशुल्क एवं संरक्षण नीति, (6) विवेकीकरण, (7) संयुक्त पूँजी कम्पनी का उदय, (8) प्रबन्ध चातुर्य और संगठन कौशल की दुर्लभता (9) विशाल आकार के लिए सम्मान आदि आदि।

व्यावसायिक संयोजन कई प्रकार के आकार ग्रहण कर सकते हैं सुविधा की दृष्टि से इन्हें पाँच प्रकारों में बाँटा जा सकता है—

1. *क्षैतिज या समतल संयोजन (Horizontal Combination)*
2. शीर्ष या लम्बवत् संयोजन (Vertical Combination)
3. पार्श्व संयोजन (Lateral Combination)
4. वित्तीय या चक्रिक संयोजन (Circular Combination)
5. विकर्णी संयोजन (Diagonal Combination)

1 "To combine is simply to became one of the parts of a whole, and a combination is merely a union of persons to make a whole or group for the prosecution of same common purposes." —*Haney.*

श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार, "एक ही वस्तु जिसका उत्पादन एक ही उत्पादक द्वारा किया जाता है को भिन्न-भिन्न क्रेताओं के हाथ विभिन्न मूल्यों पर बेचने की क्रिया को मूल्य विभेद कहते हैं ।"

ध्यान रहे, एकाधिकार का वर्गीकरण तीन प्रकार के बाजारों में किया जाता है—द्वियधिकार (Duopoly), अल्पाधिकार (Oligopoly) तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) । इन तीनो स्थितियो मे वस्तु के मूल्य, उत्पादन की मात्रा, पूर्ति की लोच व एकाधिकारी शक्ति की दृष्टि से थोडा बहुत अन्तर अवश्य बना रहता है । वैसे एकाधिकार को जन्म देने वाले अनेक कारण हो सकते हैं जैसे प्रतिस्पर्द्धा को कम करने की दृष्टि से उत्पादको द्वारा सयोजन करना, उत्पादको का महत्त्वपूर्ण वस्तुओ पर अधिकार अथवा स्वामित्व होना, उद्योग विशेष मे बडे पैमाने पर पूँजी अथवा जोखिम की आवश्यकता होना, कानून द्वारा पेटेन्ट अथवा कापी राइट का प्राप्त होना तथा परम्परागत प्रसिद्धि के कारण बाजार में एकाधिकारी स्थिति का प्राप्त होना इत्यादि ।

एकाधिकार के लाभ (*Advantages of Monopoly*)

(1) *बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएँ*—*एकाधिकार मे वस्तुओ का* उत्पादन बडे पैमाने पर करने से आन्तरिक एव बाह्य मितव्ययिताएँ (Economies) प्राप्त होती हैं जिससे वस्तु की उत्पादन लागत व कीमत कम होने लगती है ।

(2) **गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा का अन्त**—एकाधिकार के अन्तर्गत किसी वस्तु का एक ही उत्पादक होता है जिस कारण समाज को स्पर्द्धा से होने वाली हानि वहन *नहीं करनी पडती तथा विज्ञापन आदि पर होने वाले अपव्यय से बचत होती है ।*

(3) **व्यापारिक दशाओं में स्थिरता**—एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु की पूर्ति के नियमित बने रहने के कारण अत्युत्पादन अथवा न्यूनोत्पादन की सम्भावना अत्यन्त कम होती है जिसके फलस्वरूप व्यापारिक दशाओ मे स्थिरता बनी रहती है ।

(4) **उत्पादन सम्बन्धी मितव्ययिता**—एकाधिकारक सम्मिलन के अन्तर्गत *विभिन्न फर्मों के सचालको तथा कर्मचारियो* के ज्ञान एव *अनुभव का समन्वित* लाभ प्राप्त होता है तथा शोध एव अनुसधान की सम्भावना बढ जाती है ।

(5) **मन्दी का मुकाबला करने की क्षमता**—एकाधिकारिक फर्म मन्दी की दशाओ का अधिक दृढता एव क्षमता के साथ सामना कर सकती है ।

एकाधिकार के आर्थिक दुष्परिणाम
(*Evil Economic Effects of Monopoly*)

(1) **उपभोक्ताओं का शोषण**—एकाधिकारी का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ को कमाना है जिसके लिए वह वस्तु का कम उत्पादन करके ऊँची कीमत निश्चित करता है । एकाधिकारी की यह नीति न केवल उपभोक्ताओं के शोषण को बढावा देती है, बल्कि देश के आर्थिक विकास को अवरुद्ध बनाए रखती है ।

(2) ***आर्थिक अस्थिरता को बढ़ावा***—*प्राय: देखने मे आता है कि एकाधिकारी* उत्पादन मे वृद्धि तथा लागत मे कमी होने पर भी वस्तुओं की कीमत को स्थिर बनाए

एकाधिकार पर नियन्त्रण
(Control over Monopoly)

प्रो० पीगू का मत है कि सामाजिक कल्याण की दृष्टि से एकाधिकार को नियन्त्रित किया जाना अत्यावश्यक है। उन्होंने एकाधिकार को नियन्त्रित करने की सामान्यतया दो विधियों का उल्लेख किया है—

(अ) परोक्ष विधि (ब) प्रत्यक्ष विधि

(अ) परोक्ष विधियाँ (*Indirect Methods*)

(1) एकाधिकार विरोधी विधान (Anti-Monopoly Legislation)— एकाधिकारी संघों के निर्माण पर पाबन्दी लगाने तथा पूर्व-स्थापित एकाधिकारों को समाप्त करने की दृष्टि से सरकार द्वारा एकाधिकार-विरोधी विधान तैयार किए जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर अमेरिका ने सन् 1880 व 1914 में क्रमश: 'शर्मन ट्रस्ट विरोधी नियम' तथा 'क्लेटन-विरोधी नियम'। इसी प्रकार के दो विधान बनाए गए थे जिनका उद्देश्य बढ़ती हुई एकाधिकारी शक्तियों को नियन्त्रित करना था। ध्यान रहे विधान सम्बन्धी व्यवस्था अधिक कारगर सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि—(i) एकाधिकारी वर्ग उत्पादन की मात्रा एवं कीमतों के बारे में गुप्त रूप से समझौता कर लेते हैं, (ii) कानून में सदैव कुछ न कुछ कमी रह जाती है जिसका वकील लोग पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं, एवं (iii) एकाधिकार के कानूनी तौर पर भंग हो जाने से छोटी-छोटी कम्पनियों के रूप में अल्पाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(2) सम्भावित प्रतियोगिता को बनाए रखना—सरकार को एकाधिकारी संघों के *सम्भावित प्रतियोगियों को विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन देकर ऐसा वातावरण* तैयार कर देना चाहिए कि एकाधिकारी वर्ग यह महसूस करने लगे कि उक्त क्षेत्र में *नए प्रतियोगी के प्रवेश करने की पूर्ण सम्भावना है ताकि वे अपनी एकाधिकारी* शक्ति का मनमाने ढंग से प्रयोग न कर सकें, परन्तु यह विधि भी अधिक सफल नहीं *हो पाती है क्योंकि—(i) एक एकाधिकारी अपने प्रतियोगी को अनेक कुरीतियों* जैसे नीचे मूल्यों का निश्चित करना व राशि पतन द्वारा हतोत्साहित कर देते हैं, *(ii) नए प्रतियोगी के पास पूँजी व अनुभव की कमी होती है, (iii) एकाधिकारी* को बड़े पैमाने के लाभ प्राप्त होते हैं और उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने के *कारण वह नए प्रतियोगी को समाप्त करने की दृष्टि से विज्ञापन आदि पर ढेरों* रुपया व्यय कर सकता है, एवं (iv) जब कभी सरकार "Rate Cutting Policy" *की दृष्टि से मूल्य निश्चित कर देती है तो एकाधिकारी अन्य छूटें देकर इस नीति को* विफल बना देता है।

(ब) प्रत्यक्ष विधियाँ (*Direct Methods*)

(1) मूल्य तथा उत्पादन पर नियन्त्रण—यह विधि प्राय: प्राकृतिक एवं जनोपयोगी सेवाएँ उपलब्ध कराने वाले एकाधिकारों के सम्बन्ध में लागू की जाती है। सरकार एकाधिकारी शक्ति को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से "रेट अथवा मूल्य

ट्रिब्यूनल" नियुक्त कर देती है और उसकी सिफारिशों के अनुसार ही मूल्यों का निर्धारण करती है. । परन्तु इस ट्रिब्यूनल को उचित मूल्य की गणना करते समय कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पडता है, जैसे—(i) उत्पादन व्यय का अनुमान किस प्रकार लगाया जाए, (ii) फर्म को लाभ का कितना मार्जन छोड़ा जाए, एव (iii) सयुक्त लागत वाली सेवाओं की लागत किस आधार पर तय की जाए आदि ।

(2) क्रेताओं के संघ—अनुचित एकाधिकारिक शक्ति को नियन्त्रित करने की दृष्टि से क्रेताओं द्वारा ऐच्छिक आधार पर सघो के निर्माण का भी सुझाव दिया जाता है । परन्तु प्रो० पीगू का मत है कि व्यवहार में इस प्रकार के सघों का निर्माण होना सम्भव नहीं है क्योंकि एक तो क्रेताओं की सख्या अधिक होती है दूसरे वे विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं ।

(3) सहकारी ढांचे को प्रोत्साहन—विभिन्न क्षेत्रों में तथा विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों के गठन को प्रोत्साहित करके भी एकाधिकारिक शक्तियों को नियन्त्रित किया जा सकता है ।

(4) सरकारी स्वामित्व तथा प्रबन्ध—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि एकाधिकारी उद्योग देश के हित के लिए आवश्यक भी हो तथा साथ ही साथ उन पर नियन्त्रण भी हो तो ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए । परन्तु ध्यान रहे सरकारी स्वामित्व एव प्रबन्ध के अपने कुछ गम्भीर दोष भी हैं जिनको भुलाया नहीं जा सकता, ये निम्न हैं—

1. राजनीतिक भ्रष्टाचार व अकार्यकुशलता के कारण सरकारी प्रबन्ध मे कुव्यवस्था होना स्वाभाविक है ।

2. सरकारी स्वामित्व के साधनो के दुरुपयोग होने की सभावना सदैव बनी रहती है ।

3. सरकार की व्यावसायिक क्षमता व अनुभव कम होता है जिससे मितव्ययतापूर्ण उत्पादन का होना सम्भव नहीं है ।

4. सरकार द्वारा एकाधिकारी उद्योग अपने हाथ में लेने से आर्थिक सकेद्रण को बढ़ावा मिलता है जो कि नागरिक स्वतन्त्रता व न्याय की दृष्टि से उचित नहीं है।

एकाधिकार व प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम 1970

इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—(i) यह देखना की उत्पादन व वितरण की क्रियाओं का सचालन ऐसा न हो कि उनसे जनहित के विरुद्ध आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो, (ii) ऐसे एकाधिकारात्मक व प्रतिबन्धात्मक व्यवहारों पर नियन्त्रण लगाना जो जनहित के विरुद्ध हो, तथा (iii) सरकार की नियन्त्रण शक्ति को मजबूत बनाना ।

अधिनियम के प्रावधान—इस अधिनियम के प्रावधान इस प्रकार हैं-1. एक स्थायी तौर पर "एकाधिकार तथा प्रतिबन्धात्मक व्यापार आयोग" की स्थापना

करना जिसका कार्यकाल पांच वर्ष का होगा व जिसका अध्यक्ष उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश होगा। अध्यक्ष के अलावा इसमे कम से कम दो व अधिक से अधिक आठ सदस्य हो सकते हैं। जनहित के विरुद्ध चल रहे व्यापारो को वन्द करना, उन पर नियन्त्रण करना-तथा ऐसे समझौतो को रद्द व सशोधित करने का पूरा अधिकार आयोग को दे दिया है। ध्यान रहे 2 अगस्त, 1970 को इस आयोग का गठन किया जा चुका है।

2. इस अधिनियम के अन्तर्गत व्यापार प्रतिबन्धात्मक व्यवहारो सम्बन्धी सभी समझौतो का पजियन अनिवार्य कर दिया है।

3. यदि कोई एकाधिकारी शक्ति वस्तु की लागत, मूल्य, गुण प्रतिस्पर्द्धा व पूर्ति की दृष्टि से जनहित के विरुद्ध कार्य कर रही हो तो सरकार तथाकथित आयोग द्वारा उस विषय की जाँच करा सकती है।

4. ऐसी सभी कम्पनियों को जिनकी पूँजी 35 करोड़ से अधिक है, उनको भावी विस्तार हेतु सरकार से आज्ञा लेना अनिवार्य है।

5. सचालको की नियुक्ति—इसके सम्बन्ध मे यह व्यवस्था है कि यदि कोई व्यक्ति 20 करोड़ से अधिक सम्पत्ति रखने वाली सस्था का सचालक है तो वह इसके अलावा अन्य कम्पनी का सचालक तब तक नही हो सकता जब तक कि केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमति प्रदान न कर दी जाए अन्यथा वह 2000रु० के दण्ड का भागी होगा।

6. कम्पनी के एकीकरणों अथवा सविलयनो को अनुचित समझा जाने की दशा मे केन्द्रीय सरकार उनके पुनः पृथक्कीकरण का आदेश जारी कर सकती है। नि.सन्देह यह अधिनियम आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, परन्तु अधिनियम मे सबसे बडा दोष यह है कि इसमे सार्वजनिक क्षेत्र मे एकाधिकारी उद्योगो के नियन्त्रण की कोई व्यवस्था नही की गई है। दूसरे एकाधिकार विशेष का जनहित के विरुद्ध होने अथवा न होने का कोई मापदण्ड निर्धारित नही किया गया है।

8 सार्वजनिक उपक्रमों का प्रारूप

(The Pattern of Public Enterprises)

सार्वजनिक उपक्रम व्यवसाय का वह स्वरूप है जो सरकार द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित होता है और सरकार का या तो उस पर पूर्ण एकाधिकार होता है अथवा इसके अधिकांश अंश सरकार के हाथ में होते हैं। उद्योगों का सरकारी संचालन कोई नई बात नहीं है। डाक-तार तथा टेलीफोन जैसे कुछ उद्यम ऐसे हैं, जो सभी देशों में सदा राज्य द्वारा ही संचालित किए जाते रहे हैं। किन्तु पिछले कुछ वर्षों से सोवियत रूस, चीन, यूगोस्लाविया में ही नहीं बल्कि इंगलैण्ड व अमेरिका जैसे पूँजीवादी देशों में भी सार्वजनिक उपक्रमों के क्षेत्र में वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरण के लिए बहुत से देशों में रेलवे जैसी जनोपयोगी तथा राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ उद्योगों के संचालन की जिम्मेदारी राज्य ने अपने हाथ में ले रखी है। ब्रिटेन में द्वितीय महायुद्ध के बाद मजदूर दलीय सरकार के समय सार्वजनिक उपक्रम का काफी अधिक विस्तार हुआ।

बहुत समय तक भारतवर्ष में उद्योगों का स्वामित्व और संचालन निजी क्षेत्र के अधीन रहा, परन्तु ऐसा अनुभव किया गया कि जब तक सरकार औद्योगिक क्षेत्र में सक्रिय भाग न लेगी, देश का औद्योगिक ढाँचा सुदृढ़ न होगा और न ही देश का आर्थिक विकास हो सकेगा। इसीलिए स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में विशेष रुचि दिखाई और सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार हुआ। आज तो हमारे देश में सर्वत्र सार्वजनिक उपक्रमों का बोलबाला है। हमारे देश में इन उपक्रमों के संगठन का प्रारूप मुख्य रूप से इस प्रकार का है--

1. विभागीय प्रबन्ध 2. लोक निगम 3. संयुक्त पूँजी कम्पनी

विभागीय प्रबन्ध

(Departmental Management)

सरकारी उपक्रमों की व्यवस्था का सम्भवतया सबसे पुराना रूप यही है। अनेक पूर्वी व पश्चिमी देशों में दीर्घकाल तक सरकार ने पोस्ट तथा टेलीग्राफ की व्यवस्था का संचालन किया है और इसके लिए विभागीय प्रबन्ध की पद्धति ही अपनाई

गई है । कुछ देशो मे रेल व सड़क यातायात व तम्बाकू व नमक के उत्पादन के लिए भी सरकार ने विभागीय पद्धति का प्रश्रय लिया है । भारत मे आकाशवाणी, इटली तथा फ्रांस मे तम्बाकू के राजकीय उपक्रमो और अमरीका तथा कनाडा के कुछ राज्यों मे शराब की सरकारी एकाधिकारी इकाइयो की व्यवस्था विभागीय है । आजकल इस पद्धति का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो रहा है तथापि सिलोन व थाइलैण्ड में इसे अब भी व्यापक रूप से अपनाया जा रहा है ।

विशेषताएँ

1954 मे एशिया व सुदूर पूर्व के आर्थिक आयोग के तत्त्ववाधान मे रंगून मे एक सेमिनार "औद्योगिक क्षेत्र मे सार्वजनिक उपक्रमो के सगठन तथा प्रशासन" पर हुआ था । इस सेमिनार मे विभागीय प्रबन्ध की निम्न विशेषताओ को महत्त्वपूर्ण माना गया—

1. इस व्यवस्था मे उपक्रम का अर्थ-प्रबन्ध सरकारी बजट से होता है। उपक्रम से होने वाली आय सरकार के सामान्य कोष मे जमा की जाती है ।

2 उस पर शासकीय विभाग के सभी नियन्त्रण जैसे बजट एकाउन्टिंग, ऑडिटिंग आदि सभी प्रतिबन्ध लागू होते हैं ।

3. विभागीय प्रबन्ध के लिए शासकीय कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं व उनकी सेवाओ की वही शर्तें होती हैं जो अन्य शासकीय कर्मचारियो की होती हैं ।

4. सरकार के किसी प्रमुख विभाग के अन्तर्गत उप-विभाग के रूप मे उपक्रम स्थापित किया जाता है व इस पर विभाग के सर्वोच्च अधिकारी का नियन्त्रण होता है जो प्राय· I. A. S. होता है ।

5. वैधानिक दृष्टि से उपक्रम को राज्य जैसी सत्ता एव मुक्ति का विशेषाधिकार प्राप्त होता है अत. उस पर कोई भी व्यक्ति सरकार की अनुमति के बिना मुकदमा नही चला सकता ।

विभागीय प्रबन्ध प्रणाली के दोष

आजकल राजकीय उपक्रम के प्रबन्ध के लिए विभागीय प्रबन्ध-पद्धति की सामान्यतः आलोचना की जाती है । बहुधा इसमें दीर्घ-सूत्रता, यन्त्रवत् प्रशासन, कार्य विधि की लोचहीनता, नौकरशाही नियन्त्रण के दोष बताए जाते हैं । अब हम विस्तार के साथ इस पद्धति के तथाकथित व वास्तविक दोषो की विवेचना करेंगे ।

1. लोच का अभाव—विभागीय प्रबन्ध लोचहीन होता है । इस प्रबन्ध के अन्तर्गत उपक्रमो को विभिन्न नियमो के अन्तर्गत काम करना होता है जिससे तत्काल निर्णय ले सकना सम्भव नहीं होता है ।

2. अयोग्य प्रशासक—प्रबन्ध की इस व्यवस्था मे औद्योगिक प्रबन्ध मे कुशल व्यक्तियो की सेवाएँ प्राप्त करना सम्भव नही होता है । सामान्यतः प्रशासन के लिए नियुक्त शासकीय कर्मचारी बहुधा उद्योगो के प्रबन्ध मे सफल नहीं होते । इसके अलावा कृष्णामेनन की रिपोर्ट के अनुसार स्थायी कर्मचारियों पर शासकीय कर्मचारियो के नियम तथा व्यवस्थाएँ लागू होती हैं जिनके अन्तर्गत न तो योग्य को

9. एकाधिकार का दुरुपयोग—सरकार द्वारा सामान्यत: विभागीय प्रबन्ध की पद्धति उन उद्योगों मे अपनाई गई है जिनमे उसे एकाधिकार प्राप्त है। स्पष्ट है कि एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम रखने के लिए उपभोक्ताओं का शोषण करता है। विभागीय प्रबन्ध मे कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति सरकार की भी दिखलाई पडती है। अधिक आय एकत्रण के इरादे से सरकार प्राय: वस्तु के मूल्य ऊँचे रखती है जिससे उपभोक्ताओं का शोषण होता है।

विभागीय प्रबन्ध के उपरोक्त दोषों का विवेचन करने के बाद इस निष्कर्ष पर आना स्वाभाविक है कि यह राजकीय उपक्रमो की सन्तोषजनक पद्धति नही है और इसमे सुधार अपेक्षित है। प्रोफेसर डिमाक का मत है कि "यदि विभागो मे अधिक स्वतन्त्रता व लोच की दिशा मे समुचित सुधार कर दिए जाएँगे तो सरकारी नियमों की स्थापना आवश्यक हो जाएगी" स्वतन्त्रता न होने पर सरकारी अधिकारी पहल नही करते। उन्हे मन्त्रिमण्डल व सचिवों आदि के निर्णयो के अनुसार कार्य करना होता है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि प्रतिरक्षा उद्योगो पर सरकार का कठोर नियन्त्रण आवश्यक है अत. विभागीय अधिकारियो को अधिक स्वतन्त्रता देना युक्ति-सगत न होगा। सरकारी उद्योगो के विभागीय प्रबन्ध मे ए डी. गोरवाला का मत है कि "विभागीय प्रबन्ध-पद्धति को असाधारण परिस्थितियो मे ही अपनाया जाना चाहिए साधारण परिस्थितियो मे नहीं। अनेक बातो मे यह स्वशासन की आवश्यकता की प्रत्यक्ष विपरीत पद्धति है। यह पहल व लोच को समाप्त कर देती है और प्रबन्धको को नियमों और कार्यविधियो मे जकड देती है। इससे तात्कालिक समस्याओ के उचित हल मे बाधा पडती है।"[1]

लोक निगम
(Public Corporation)

सार्वजनिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत लाभ की तुलना मे जनहित को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है परन्तु स्वतन्त्रता व लोच के गुण सहज प्राप्त नही होते। लोक निगमो की स्थापना द्वारा जनहित मे उत्पादन की सम्भावना के साथ-साथ उसकी व्यवस्था सम्बन्धी पद्धति मे लोच और स्वतन्त्रता के गुण भी विद्यमान रहते हैं। निगमो की विवेचना विभिन्न विद्वानों ने की है। अर्नेस्ट डेवीज के अनुसार, "लोक निगम एक स्वतन्त्र अस्तित्व वाली सस्था होती है जिस पर मुकदमा चलाया जा सकता है और जो स्वय भी मुकदमा चला सकती है। यह अपने अर्थ-प्रबन्धन के लिए स्वय उत्तरदायी होती है।" डॉ एल गार्डन के अनुसार, "लोक निगम वृहत् मिश्रित पूँजी कम्पनी का सार्वजनिक उपक्रमो का उपयुक्त विकसित किया गया रूप है" परन्तु लोक निगमो की स्थापना मिश्रित पूँजी अधिनियम के अन्तर्गत नही होती। इसके लिए ससद् द्वारा एक विशेष नियम का पारित होना जरूरी है। लोक व निजी निगमो की तुलना करते हुए हर्बर्ट मोरिसन ने लोक निगमो को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ

1. *A. D Gorwala* Report on the Efficient Conduct of State Enterprises, Government of India, Planning Commission, pp. 13-14

माना है। उन्हीं के शब्दों में "लोक निगमों की श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमें लोकहित की दृष्टि से राजकीय स्वामित्व, राजकीय दायित्व एवं व्यापारिक प्रबन्ध तीनों का मिश्रण होना है।"

लोक निगम की विशेषताएँ—लोक निगम की स्थापना के लिए संसद् अथवा धारा सभा द्वारा एक विशेष नियम पारित करना होता है। इस अधिनियम में निगम के कार्यक्षेत्र, उसकी वित्तीय व्यवस्था, तथा प्रबन्ध व संगठन आदि के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण होता है।

1 **विशेष नियम के अन्तर्गत स्थापना**—लोक निगम की स्थापना के लिए संसद् या धारा द्वारा एक नियम पारित करना होता है। इस नियम के कार्यक्षेत्र, उसकी वित्तीय व्यवस्था तथा प्रबन्ध व संगठन आदि के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण होता है।

2 **सरकार का स्वामित्व**—लोक निगम की पूँजी जुटाने का पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार का होता है व सामान्यतः सम्पूर्ण पूँजी भी वही प्रदान करती है। कभी-कभी उसकी पूँजी सरकार के अलावा अन्य संस्थाओं द्वारा भी प्रदान की जाती है। ऐसी स्थिति में उपक्रम पर सरकार का स्वामित्व सीमित होता है।

3. **स्वतन्त्र वित्त-व्यवस्था**—लोक निगम की आय तथा व्यय सरकारी बजट का अंश नहीं होती, अतः इसके अर्थ-प्रबन्धन के सम्बन्ध में संसदीय स्वीकृति आवश्यक नही है। इस पर सरकार के आय-व्यय सम्बन्धी नियम लागू नही होते हैं। विभागीय प्रबन्ध के अन्तर्गत आने वाले उपक्रमों से सम्बद्ध बजट तथा लेखा-परीक्षण की व्यवस्था भी लोक निगमों पर लागू नही होती।

4. **मन्त्रियों तथा शासकीय अधिकारियों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप न होना**—सार्वजनिक निगम पर यद्यपि सरकारी स्वामित्व होता है तथापि इसके कार्यान्वयन, प्रबन्ध आदि में मन्त्रियों, सचिवों व अन्य सरकारी अधिकारियों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं होता। वे सम्बन्धित अधिनियम में उल्लिखित प्रावधानों के अन्तर्गत ही निगम के मामलों में हस्तक्षेप कर सकते हैं। इस प्रकार जहाँ लोक निगम के प्रबन्ध की स्थिति विभागीय प्रबन्ध से श्रेष्ठ है वहाँ इसे शासकीय विभागों से स्वतन्त्रता के कारण मन्त्रालय व विभागों को प्राप्त मुक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं।

5. **स्थापना का उद्देश्य-सामाजिक हित**—जहाँ निजी उपक्रमों की स्थापना लाभ कमाने के उद्देश्य से की जाती है वहाँ लोक निगम की स्थापना सार्वजनिक हित की पूर्ति हेतु की जाती है। इसलिए इनकी कार्य सम्बन्धी दशाएँ तो श्रेष्ठ होती हैं साथ ही इनका प्रयास यह भी होता है कि वस्तुओं की कीमतें नीची रखी जाएँ।

6. **प्रबन्ध मण्डल**—लोक निगम का प्रबन्ध "प्रबन्ध मण्डल" द्वारा होता है जो शासकीय तथा संसदीय हस्तक्षेपों से साधारणतया मुक्त होता है।

7. **कर्मचारियों की भर्ती**—लोक निगम को शासकीय कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। वे आवश्यकतानुसार विशेषज्ञों व कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकते हैं। इनकी सेवाओं में सम्बन्धित नियम व वेतन-क्रम भी शासकीय कर्मचारियों पर लागू होने वाले नियमों व उनके लिए निर्धारित वेतन-क्रमों से भिन्न होते हैं।

सार्वजनिक निगम के गुण

लोक निगम में लोकहित में उत्पादन व स्वतन्त्रता एवं लोच के गुणों का समन्वय दिखाई पड़ता है। लोक निगम के गुण निम्न हैं—

1. राष्ट्र हित की पूर्ति—लोक निगम राष्ट्र हित में सरकार की नीति के अनुरूप ही कार्य करता है। राज्य की स्वीकृत नीति के विरुद्ध कार्य करने पर सरकार हस्तक्षेप कर इसे मान्य नीति के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकती है।

2 शासकीय अधिकारियों का हस्तक्षेप न होना—निगम का स्वतन्त्र अस्तित्व होने के कारण इसके कार्यान्वियन में शासकीय अधिकारियों व मन्त्रियों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं होता, इस प्रकार ये राजनैतिक प्रभावों से बचे रहते हैं।

3. निजी उपक्रम की प्रेरणा तथा पहल—लोक निगम के पदाधिकारियों को महत्त्वपूर्ण निर्णय स्वयं लेने का अधिकार होता है इसलिए वे अपने निर्णय के अनुसार पहल भी कर सकते हैं। व्यवस्था की इस पद्धति में विभागीय प्रणाली की भाँति दीर्घसूत्रता अपेक्षाकृत कम रहती है।

4. व्यावसायिक सिद्धान्तों का पालन—लोक निगम के घाटों को सरकारी बजट से पूर्ण नहीं किया जा सकता इसलिए इसका संचालन व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुसार ही होता है।

5. पर्याप्त लोच एवं स्वतन्त्रता—लोक निगम को आन्तरिक प्रबन्ध एवं वित्तीय मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, इसलिए उसकी कार्य-प्रणाली में भी लोच होता है।

6. प्रबन्ध मण्डल में विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व—प्रबन्ध-मण्डल के सदस्यों को सामान्यतः सरकार द्वारा मनोनीत करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वे विशेषज्ञ, तक्नीशियन अथवा उद्योगपति, श्रमिक अथवा उपभोक्ता वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले होने चाहिए।

7 निजी तथा लोक उपक्रम व्यवस्था के लाभ—इस प्रबन्ध-पद्धति में नौकरशाही की कठोरता के बिना ही सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव होती है और साथ ही निजी उपक्रमों के विभिन्न गुण भी इसमें विद्यमान होते हैं।

सार्वजनिक उपक्रम के क्षेत्र में लोक निगम पद्धति का उपर्युक्त गुणों के कारण सर्वत्र स्वागत हुआ है। रोब्सन के मतानुसार तो सरकारी उपक्रमों की व्यवस्था के लिए अब तक विकसित विभिन्न पद्धतियों में श्रेष्ठतम यही है।

लोक निगम के दोष

1 संसदीय एवं मन्त्रिमण्डलीय नियन्त्रण—लोक निगम की स्थापना अधिनियम के अन्तर्गत होती है व उसका अस्तित्व भी सरकार से अलग होता है तथापि इसके कार्यान्वियन एवं प्रगति से सम्बन्धित समस्याओं पर संसद् में विचार किया जा सकता है। बहुधा विरोधी पक्ष के सदस्यों द्वारा न केवल इसकी आलोचना की जाती है वरन् इसकी जाँच करने की भी माँग की जाती है। इससे किसी भी लोक निगम के प्रबन्धकों के लिए स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करना कठिन हो जाता है, फलस्वरूप

प्रबन्धकीय स्तर गिर जाता है। इसके अलावा लोक निगमो की प्रबन्ध परिषदो मे सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यो का बहुमत होता है इस दृष्टि से भी इसकी कार्यविधि पर समुचित सरकारी नियन्त्रण होता है।

2. **निजी हित का प्रभाव व नौकरशाही व्यवस्था के दोष**—लोक निगम की प्रबन्ध परिषद् मे जो भी व्यक्ति मनोनीत होते है उनका प्रतिष्ठान विशेष मे कोई निजी हित नही होता। वे निगम के लाभ-हानि मे भागीदार नही होते अतः उनकी कार्यविधि मे नौकरशाही व्यवस्था का दोष आना स्वाभाविक है।

3. **सरकार द्वारा हानि वहन करना**—निजी क्षेत्र मे कोई भी प्रतिष्ठान निरन्तर हानि उठाकर कार्यरत नही रह सकता परन्तु सार्वजनिक निगम को हानि होने पर उसकी पूर्ति सरकार द्वारा की जा सकती है। इसलिए प्रायः प्रबन्ध परिषद् कुशलता का ऊँचा स्तर प्राप्त करने की दिशा मे विशेष प्रयत्न नही करती।

4. **कुशल संचालन में वैधानिक कठिनाइयाँ**—सार्वजनिक निगम के कार्यक्षेत्र, पूँजी सगठन विधि तथा अधिकारो को सम्बद्ध अधिनियम के अन्तर्गत निर्धारित किया जाता है। बहुधा व्यवहार मे इन प्रतिबन्धो के अन्तर्गत काम करने मे लोक निगम को कठिनाई का अनुभव होता है और इसलिए उन्हें इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए अधिनियम मे बार-बार सशोधन करना पडता है।

5. वी० पी० रामानाथम के अनुसार—"भारतीय निगम अधिनियमो मे उपभोक्ताओ के हितो की ओर सबसे कम ध्यान दिया गया है। इस सम्बन्ध मे यह सन्देह किया जा सकता है कि सम्भवत यही मान लिया गया है कि सरकारी उपक्रमो मे उपभोक्ता के हित स्वत: ही सरक्षित होते हैं।"[1]

लोक निगमो की यह आलोचना सामान्यत असगत नहीं है क्योंकि भारतीय निगमो से सम्बद्ध अधिकांश अधिनियमो मे कोमन नियन्त्रण आदि के लिए कोई व्यवस्था नही है।

6. भारत के विभिन्न निगमों के लेखा परीक्षणो के लिए भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ की गई हैं जो सर्वथा युक्तिसगत प्रतीत नही होती। नेशनल डेवलपमेन्ट एण्ड वेयर-हाउसिंग बोर्ड का दिल्ली सडक यातायात निगम, राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा एयर कारपोरेशन का लेखा परीक्षण कार्य महा लेखा परीक्षक द्वारा सम्पन्न होगा। कर्मचारी राज्य बीमा निगम तथा सडक यातायात निगमो के लिए सरकार द्वारा लेखा परीक्षक नियुक्त किए जाएँगे। दामोदर घाटी निगम के लिए महालेखा परीक्षक की राय से ही लेखा परीक्षक नियुक्त किए जाएँगे। जबकि बीमा निगम सरकार की स्वीकृति से अपने लेखा परीक्षक नियुक्त कर सकता है। अस्तु भारतीय लोक निगमों की लेखा परीक्षण व्यवस्था मे विविधता के साथ-साथ अनावश्यक जटिलता भी है।

1. "The consumer is the most forgotten interest under the Indian Corporation Acts We may suspect that it is too easily taken for granted that public enterprise provides atomic protection to the consumer's interests"
—*V. V. Ramanandham :The Structure of Public Enterprises in India*, p. 167.

5. गैर-सरकारी संचालकों की उदासीनता—सरकारी कम्पनियों के गैर-सरकारी सचालन प्रबन्ध ग्रादि मे विशेष रुचि नही लेते उन्हें साधारणतया कम्पनी के मामलो की पर्याप्त जानकारी नही होती। इसके ग्रलावा उनकी धारणा यह रहती है कि सरकारी कम्पनियो मे सरकारी सचालको की भूमिका प्रधान होती है ग्रौर उनकी ग्रपनी स्थिति ग्रपेक्षाकृत गौण। नीति-निर्धारण के सम्बन्ध मे भी उनका विचार यह है कि ग्रन्तिम निर्णय सरकारी सचालकों का ही होना है ग्रौर वे उसे ग्रधिक प्रभावित नही कर सकते हैं। इसके ग्रलावा कम्पनी ने ग्रार्थिक हित न होने के कारण भी गैर-सरकारी सचालन उदासीन हो जाते हैं।

6. सविधान के साथ कपट—सरकारी कम्पनियों का एक महत्त्वपूर्ण दोष यह भी है कि इनमे शक्ति का केन्द्रीयकरण सरकार के हाथो मे इस प्रकार है कि उसका प्रयोग ससद् के नियन्त्रण के बिना भी किया जा सकता है। सरकारी कम्पनियों के सचालक-मण्डलो को विभागीय प्रशासन के लगभग सभी ग्रधिकारी मिले हुए प्रतीक होते हैं ग्रौर जिन्हे ससदीय ग्रालोचना से मुक्ति मिली हुई होती है। इस ग्राधार पर भारत के एक भूतपूर्व महालेखा परीक्षक ने सरकारी कम्पनी की व्यवस्था को सविधान के साथ कपट बतलाया है।

सरकारी उपक्रमो की स्थापना के लिए विभिन्न प्रकार की प्रबन्ध सम्बन्धी व्यवस्थाग्रो के विषय मे हम ऊपर लिख ग्राए हैं। ग्रब विचारणार्थ यह है कि इनमे भारतीय परिस्थितियो मे सबसे उपयुक्त कौन सा है। इस समस्या पर जे० के० गैलब्रेथ ने सन् 1956 मे योजना ग्रायोग को ग्रपनी सिफारिश मे राय व्यक्त की थी कि भारत सरकार को प्रत्येक नवीन उपक्रम के लिए सार्वजनिक निगम ग्रथवा कम्पनी स्थापित करने की दिशा मे नही सोचना चाहिए। भारत के लिए ग्रधिक उपयुक्त यही होगा कि थोडी सख्या मे निगम स्थापित हो जाएँ ग्रौर प्रत्येक के नियन्त्रण मे कई प्रतिष्ठान हो। इस प्रकार सरकारी प्रतिष्ठानो की कार्यविधियो पर ससदीय नियन्त्रण रख पाना सहज होगा। 1960 मे ग्रनुमान समिति ने भी गैलब्रेथ से सुझाव का समर्थन किया। कृष्णामेनन समिति के ग्रनुसार इस प्रकार उत्पादन-सघो के विकास की प्रवृत्ति जोर पकड सकती है। इसके ग्रलावा इस देश मे प्रबन्धकीय कौशल का ग्रभाव है, ग्रतएव ग्रनेक प्रतिष्ठानो को नियन्त्रण करने वाले वृहद् ग्राकार के निगमो के प्रबन्ध के लिए इस देश मे योग्य प्रबन्धक मिल सकेंगे, यह सदिग्ध है। परन्तु इस शका के बावजूद भी भारत सरकार की नीति ऐसे ही निगमों की स्थापना के पक्ष मे प्रतीत होती है। फर्टीलाईजर्स कॉरपोरेशन ग्रॉफ इण्डिया, हैवी इन्जिनियरिंग कॉरपोरेशन, राँची हैवी इलैक्ट्रिकल्स ग्रादि की स्थापना इसी दिशा के प्रयास हैं।

रोजगार के सन्दर्भ में सामाजिक उत्तरदायित्व और भृति नीति

(Social Responsibility of Business in the Context of Employment and Wage Policy)

भृति आधुनिक युग में श्रमिकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण घटक है जिसके सम्बन्ध में प्राय: औद्योगिक कलह का प्रादुर्भाव होता है। भृति द्वारा कर्मचारियों को एक समूह के रूप मे व्यवसाय के उद्देश्यो की पूर्ति हेतु प्रोत्साहित किया जाता है। श्रमिक के श्रम का व्यवसाय के लिए उपयोग किया जाता है व इसके बदले मे उसे भृति दी जाती है। इस प्रकार भृति श्रम का किराया मात्र होती है। परन्तु आधुनिक युग में श्रमिक के श्रम को ही किराया नहीं मान लिया जाता है अपितु सम्पूर्ण मानव को व्यवसाय का अङ्ग मानकर व्यवसाय की आय में से जो भाग दिया जाता है वही भृति कहलाती है। व्यवसाय की आय का भाग श्रमिक को देने के लिए उसके कार्य को आधार माना जाता है इसके अलावा भृति व वेतन कर्मचारियो के कार्य के प्रति प्रेरणा बनाए रखने व मनोबल मे वृद्धि करने मे भी सहायक होते हैं। प्राचीन काल से ही नियोक्ता श्रमिको के सहयोग एव परिश्रम को खरीदता आया है। परन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे जबकि वस्तु विनिमय आर्थिक सरचना का आधार था, भृति वस्तु मे दी जाती थी। जैसे-जैसे वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा ने लेना शुरू किया श्रमिको को मौद्रिक पारिश्रमिक देने की प्रथा की प्रगति होती गई। प्रारम्भ मे केवल दस्तकारों को ही मुद्रा मे क्रय किया जाता था। हस्तकला उत्पादन विधि की प्रगति के साथ-साथ प्रतिनिधि की भृति पर रखे जाने वाले श्रमिको का महत्व बढता गया और कारखानों एवं वृहद स्तर के उत्पादन के अन्तर्गत भूमि प्रोत्साहन का एक महत्वपूर्ण घटक माना जाने लगा।

आधुनिक व्यावसायिक कला मे जैसे-जैसे मानव का महत्त्व बढ़ता जा रहा है, मानव को प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक सम्बन्धी समस्याएँ जटिल होती जाती हैं। आधुनिक प्रवन्धक का यह महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि वह अपने व्यवसाय की श्रम-शक्ति को सन्तुष्ट रखें। श्रमिक को सन्तुष्ट रखने के लिए भृति प्रशासन कुशलता से किया जाना चाहिए। भृति प्रशासन के अन्तर्गत प्रबन्ध को प्रत्येक कार्य पर श्रमिक से की

जाने वाली माँगों एवं उत्तरदायित्वों के आधार पर विभिन्न कार्यों के पारिश्रमिक को निर्धारित करना चाहिए और प्रत्येक श्रमिक के कार्य-निष्पादन के गुण एवं मात्रा के आधार पर उस श्रमिक की भृत्ति में समायोजन कर देना चाहिए। भृत्ति प्रशासन को कार्य एवं कर्मचारी मूल्यांकन द्वारा जो सूचनाएँ उपलब्ध हुई हैं उनके आधार पर निर्णय करना चाहिए। यद्यपि भृत्ति सम्बन्धी नीतियाँ प्रबन्ध के उच्च अधिकारियों द्वारा निर्धारित की जाती हैं, परन्तु उनका प्रशासन सेवावर्गीय विभाग द्वारा किया जाता है। भृत्ति सम्बन्धी नीतियों के अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि किस वर्ग के कार्यों को कौन-कौन सी विधियों द्वारा पारिश्रमिक दिया जाएगा। इसके अलावा कर्मचारियों को नियमित भृत्ति के अलावा जो मौद्रिक पारिश्रमिक दिया जाएगा इसके सम्बन्ध में नीति-उच्च-अधिकारियों द्वारा की जाती है। इन नीतियों के अधीन रहकर भृत्ति प्रशासन के अन्तर्गत इस बात का आयोजन करना होता है कि भृत्ति का नियमित रूप से शोधन होता रहे। अतिरिक्त समय में किए गए कार्य के लिए शोधन किया जाए, दण्ड आदि कटौतियों को भृत्ति-शोधन से पूर्व काट लिया जाए व वेतन में सामान्य व विशेष वृद्धि की जाए। भृत्ति सम्बन्धी नियमों के अनुकूल होते हुए भी कभी-कभी भृत्ति सम्बन्धी औद्योगिक कलह का प्रादुर्भाव होते देखा गया है। इसका मुख्य कारण भृत्ति-प्रशासन के दोष एवं शिथिलता होता है। भृत्ति प्रशासन में कर्मचारियों के लिए किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए और श्रमिकों के लिए जो वृद्धि एवं सुविधा जिस समय दातव्य हो उसी समय बिना माँग के वे देनी चाहिए। भृत्ति-वृद्धि, जो अच्छे कार्य के पुरस्कार स्वरूप दी जाती है, को देते समय इस वृद्धि का इस प्रकार प्रदर्शन करना चाहिए जिससे अन्य श्रमिकों को यह ज्ञात हो सके कि अच्छा कार्य करने से किसको कितनी वृद्धि मिली। इससे वृद्धि मिलने वाले श्रमिक सम्मानित होते एवं नए जोश के साथ कार्य करते हैं। यदि कोई विशेष कार्य करने के पश्चात् कर्मचारी को अपने पुरस्कार के लिए प्रशासन को आवेदन-पत्र प्रस्तुत करना पड़े तो इस वृद्धि से कर्मचारी की प्रेरणा को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

भृत्ति निर्धारण—एक कठिन समस्या
(Wage Determination–A Ticklish Problem)

भृत्ति-निर्धारण को सेवी-वर्गीय विभाग का प्रायः सबसे कठिन काम कहा जाता है जो सत्य भी है। हम यह कह सकते हैं कि भृत्ति ही वह कीली है जिसके चारों ओर अधिकांश श्रम-समस्याएँ चक्राकार में घूमती हैं। श्रमिक वर्ग का जीवन-स्तर उसकी उत्पादन क्षमता, उत्पादन लागत, वस्तु का विक्रय मूल्य तथा औद्योगिक शान्ति की समस्या सभी कुछ अकेले इसी पर निर्भर करता है कि श्रमिक एवं प्रबन्धक कितना शीघ्र व सन्तोषजनक रूप से हल कर लेते हैं। भृत्ति का प्रश्न आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक सभी दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। इस समस्या का समाधान अच्छे श्रम-प्रबन्ध सम्बन्धों की नींव है व भावी आर्थिक उन्नति का सूचक है। परन्तु इसका निर्धारण एक जटिल कार्य है व इसका कारण भृत्ति-निर्धारण की समस्या

अतएव यह व्यवसाय का सर्व प्रमुख सामाजिक दायित्व है कि श्रमिकों को उचित भृत्ति दी जाए। जब भृत्ति नीति के सम्बन्ध में जो भी निर्णय लिए जाएँ, तब श्रमिक को मानव की दृष्टि से देखा जाए, क्योंकि इसी आय से उसे अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ता है। यदि भृत्ति प्राप्त हुई तो उसकी कार्य-क्षमता भी निश्चित रूप से बढ़ेगी। सन्तुष्ट श्रमिक व्यवसाय की बहुत बड़ी सम्पत्ति है।

प्रबन्धकीय क्रान्ति के फलस्वरूप भी प्रबन्ध के क्षेत्र में एक नवीन दर्शन का विकास हो रहा है,जो कि प्रबन्धकों को अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाने और उनके सामाजिक उत्तरदायित्व का अहसास कराने में सहयोग कर रहा है। यह नवीन धरातल हमें यह बताता है कि श्रमिकों के साथ मानवोचित व्यवहार किया जाना चाहिए। वे भी हमारी ही तरह मनुष्य हैं, उन्हें उचित भृत्ति देने के साथ-साथ मानवोचित सम्मान भी दें। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नवीन सामाजिक उत्तरदायित्व इस बात की अपेक्षा करता है कि प्रबन्धकों के सोचने की दिशा बदलें, तौर-तरीके बदलें और वे व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ।

तब तक संघर्ष होते ही रहेंगे और न औद्योगिक क्षमता में ही वृद्धि हो पाएगी और न भौतिक विकास ही।"[1] औद्योगिक प्रजातन्त्र की स्थापना की दिशा मे यह पहला आवश्यक कदम है।

भारत मे महात्मा गांधी ने श्रम प्रबन्ध सहयोग की आवश्यकता पर बल दिया था। वे ग्राम लोकतन्त्र के साथ-साथ कारखाना लोकतन्त्र की स्थापना भी चाहते थे जिसमे श्रमिको को पूँजीपतियो के समान ही प्रबन्ध मे अधिकार होगा। यही समाजवादी समाज की स्थापना की नींव का पहला पत्थर है जैसा कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे कहा गया था कि समाजवादी समाज की रचना लाभकारी सिद्धान्तो पर नही की जा सकती। उसके लिए समाजसेवा सिद्धान्त को स्वीकृति देनी पडेगी। यह आवश्यक है कि श्रमिक यह समझें कि वह प्रगतिशील भारत के निर्माण मे योग दे रहा है।

औद्योगिक प्रबन्ध मे श्रमिको का भाग होने पर उसे "औद्योगिक लोकतन्त्र" (Industrial Democracy) का एक रूप माना जाता है। क्योंकि उद्योग मे इस व्यवस्था के अन्तर्गत कर्मचारी सेवक भी होता है और मालिक भी, उसे निर्णय लेने की प्रक्रिया मे महत्वपूर्ण घटक के रूप मे स्वीकार करता है और वह भी प्रबन्धक के साथ बैठकर उद्योग की सभी समस्याओं पर अपनी राय देता है। इसके पक्ष मे प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि श्रम उत्पादन के अन्य साधनो से भिन्न होता है। इसे उत्पादन का न केवल साधन अपितु साध्य भी समझना चाहिए। श्रमिक उत्पादन कार्य मे केवल निर्जीव यन्त्र की भाँति कार्यरत रहना नहीं चाहता। प्रबन्ध मे उसका भाग रहने पर वह अधिक सन्तुष्ट रहता है और कारखानों के मालिकों के साथ सम्बन्धो मे तनाव नहीं होता। बहुधा इसका उसकी कार्य-कुशलता पर अच्छा प्रभाव पडता है व उत्पाद मे वृद्धि हो जाती है। उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिक का भाग किस रूप मे होना चाहिए यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है पाश्चात्य देशों मे जहाँ औद्योगिक लोकतन्त्र की दिशा मे काफी प्रयोग किए गए हैं, उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको की स्थिति भिन्न-भिन्न है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि किसी देश मे उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिको का सहयोग प्राप्त करने के प्रयास मे प्रबन्ध मे उन्हें नियन्त्रण प्रदान नहीं किया गया है।

फेबियन विचारक सिडनी वेब (Sydney Webb) का मत है कि प्रबन्धको एव व्यवस्थापकों के चयन, निलम्बन तथा उनकी बर्खास्तगी मे यदि सहायक कर्मचारी का हाथ हो तो श्रम सगठन, स्वचलित कार्यशाला आदि के लिए ऊँचे स्तर के प्रबन्ध की व्यवस्था करना सम्भव न होगा। अभिप्राय यह है कि उद्योगों के प्रबन्ध पर श्रमिको का नियन्त्रण अवाञ्छनीय होगा। सिडनी वेब का यह मत वैज्ञानिक समाजवाद मे आस्था रखने वालो को मान्य नही है। उद्योगो के प्रबन्ध में श्रमिकों के सहयोग के महत्त्व को स्वीकार कर लेने पर भी पूँजीवादी देशों में मिश्रित पूँजी

1 *Prof Kirkaldy* : The Spirit of Industrial Relations

2. सामाजिक उद्देश्य—श्रम सम्पत्ति का वास्तविक उत्पादक है। अतएव समाज मे श्रमिक की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। पूँजीवाद देशो मे श्रमिक उत्पादन यन्त्र का पुर्जा मात्र बना हुआ है। इससे प्रायः श्रमिको मे हीन भावना उत्पन्न होती है जो कि स्वस्थ सामाजिक दृष्टि से ठीक नहीं है। उद्योगो के प्रबन्ध मे श्रमिकों का भाग होने पर उनका सामाजिक स्तर कुछ ऊँचा हो जाता है। इससे श्रम की प्रतिष्ठा बढती है व लोगों को श्रम करके जीविका उपार्जित करने मे संकोच नहीं रहता।

3. मनोवैज्ञानिक उद्देश्य—प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारो की अभिव्यक्ति का अधिकार चाहता है,जिससे उसे सन्तोष मिलता है। वृहत् उद्योगों मे श्रमिक जब यन्त्र-चालित सा कार्य करता है व व्यवस्था मे उसका कोई हाथ नही होता तो बहुधा उसे अपनी भावनाओ को दबाना पडता है जो उसके व्यक्तित्व विकास मे बाधक सिद्ध होता है, परन्तु बहुधा अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर वे अपनी सीमित प्रक्रिया के विषय मे उपयोगी सुझाव दे सकते है। अस्तु औद्योगिक प्रबन्ध मे उनका योगदान होने पर वे अपने सुझावों द्वारा न केवल उत्पादन-व्यवस्था मे सुधार करवा पाने में सफल होते हैं अपितु इससे उनमे आत्म-विश्वास, चेतना आदि का भी विकास होता है। जी. एस. वालपोल के शब्दो मे, "उद्योगों मे कार्य करने वाला कर्मचारी केवल शिकायत अथवा सुझाव दे सकने की सुविधा पाकर ही सन्तुष्ट नहीं होता वह ऐसा करने के उत्तरदायित्व की मान्यता चाहता है क्योंकि एक कर्मचारी होने के नाते वह उस उद्योग का संयुक्त भागीदार है जिसमे उसका धन तो नही जीवन लगा होता है।"[1]

श्रमिको द्वारा प्रबन्ध में भाग लेने के रूप

श्रमिकों द्वारा प्रबन्ध मे भाग तीन रूपो मे लिया जा सकता है—

1. सहभागिता (Co-partnership)—सहभागिता को चेपमैन ने सहस्वामित्व कहकर भी पुकारा है इसका आशय श्रमिको को उद्योग का अंशधारी बनाने से है अंशधारी बनने पर वह न केवल प्रबन्ध मे ही भाग ले सकता है बल्कि लाभो मे भी भाग ले सकता है। इस प्रकार श्रमिक को उद्योग मे स्वामित्वशील हित मिल जाता है। श्रमिको को अंशधारी तीन प्रकार से बनाया जा सकता है। उन्हे बोनस आदि नगद न देकर उसके बदले मे बाजार से अंश क्रय कर दिए जाएँ, दूसरे कम्पनी अंश निर्गमित करे तो कर्मचारियो को उन पर क्रय का पूर्वाधिकार दे दें अथवा तीसरे कम्पनी स्वयं उन्हे स्कन्ध विपणी से अंश क्रय करके दे दें। तीनों ही रूप मे एक कर्मचारी अंशधारी बन जाता है और वह अंशधारी के नाते प्रबन्ध मे अपनी राय दे सकता है। इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि फिर कर्मचारी सिर्फ कर्मचारी

1. "It is not a matter of man being accorded the privilege although an employee, of stating a complaint or offering a suggestion but of having a recognised responsibility for doing so because he is an employee and therefore a joint partner in the enterprise in which he is investing not money but his life." —*G. S. Walpole.*

हैसियत से ही हर समस्या पर विचार नही करता अपितु स्वामी के दृष्टिकोण से भी विचार करता है। अन. बहुत-सी शंकाएँ, गलत फहमियाँ तथा अन्य दुर्भावनाएँ अपने आप ही समाप्त हो जाती हैं।

2. श्रम संचालक (Workers as Directors)—श्रमिकों का प्रबन्ध में भाग लेने का दूसरा रूप यह हो सकता है कि सचालक मण्डल मे एक या दो सचालक श्रमिकों के भी रखे जाएँ। इन श्रमिक सचालको को श्रमिक नताओं में से ही चुनाव पद्धति द्वारा चुना जाए। कुछ लोग यह माँग करते है कि श्रमिक सचालक श्रम सघ द्वारा मनोनीत किए जाएँ। मगर इसमे एक कठिनाई यह है कि एक औद्योगिक इकाई में 3-4 श्रम सघ तक भी होते हैं और उनमे एक व्यक्ति के नाम मे सहमति होना कठिन काय होगा अतः निर्वाचन-पद्धति ही सर्वश्रेष्ठ है। श्रमिक सचालक श्रमिको का पक्ष भली प्रकार सचालक मण्डल की बैठक मे रख सकता है, परन्तु इस योजना की उपयोगिता मे एक सन्देह है कि श्रमिक सचालक अल्पमत मे होगा। अत. प्रबन्धक वर्ग के सचालक उसके मत की उपेक्षा भी कर सकते हैं अथवा उसे कुछ प्रलोभन देकर भी उसका मुँह बन्द किया जा सकता है।

3 संयुक्त प्रबन्ध परिषद् (Joint Management Council)—श्रमिक को प्रबन्ध मे भाग देने का तीसरा रूप यह हो सकता है कि सयुक्त प्रबन्ध परिषद् की स्थापना की जाए। इन परिषदो मे प्रबन्धको व श्रमिको के प्रतिनिधि समान सख्या में रहते हैं। प्राय: यह सख्या 5-5 अथवा 6-6 सदस्यों की रहती है। ये परिषदें इकाई स्तर पर, स्थानीय स्तर पर तथा उद्योग स्तर पर स्थापित की जा सकती हैं। श्रमिको के प्रतिनिधियो का चुनाव निर्वाचन द्वारा या श्रम सघो द्वारा नामाकन के आधार पर हो सकता है। श्रमिक प्रतिनिधि श्रमिको मे से ही होने चाहिए, परन्तु विशेष परिस्थितियो मे बाहरी व्यक्ति भी लिए जा सकते हैं, जैसा कि भारत मे किया गया है कि श्रमिको के प्रतिनिधियो की सख्या का 25% (अधिकतम) बाहरी व्यक्ति हो सकते हैं। इन परिषदो का कार्य मुख्यतया परामर्शात्मक प्रवृत्ति का है और ये श्रमिको मे सम्बन्धित सभी समस्याओ पर विचार करके उच्च प्रबन्धको को परामर्श दे सकती हैं।

भारत मे उक्त तीनो ही रूप अपनाए गए हैं। सहभागिता जिन उपक्रमो मे अपनाई गई है उनमे गस्ट, कीन एण्ड विलियम्स, वर्ड एण्ड हेल्जियर्स तथा हिन्दुस्तान लिवर लि० मुख्य हैं। श्रमिक सचालक को नियुक्त करने का कार्यक्रम अनेक सार्वजनिक उपक्रमो मे चल रहा है जैसे वायु सेना निगम, सिन्दरी खाद का कारखाना, विशाखापट्टनम जहाजरानी और राजस्थान मे राज्य पथ परिवहन निगम। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अनेक राष्ट्रीयकृत बैंको मे भी सचालक मण्डल मे कर्मचारियों को प्रतिनिधित्व दिया गया है, किन्तु हमारे देश मे अभी इसकी जडे जम नही पाई हैं।

श्रमिको को प्रबन्ध में भाग देने का प्रयोग विश्व के कई देशो में पर्याप्त सीमा तक सफल हुआ है। वहाँ इससे औद्योगिक सम्बन्ध सुधरे हैं तथा श्रमिको एवं उद्योगों दोनों की ही उत्पादकता मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। परन्तु भारत में स्थापित सयुक्त प्रबन्ध परिषदें वाञ्छित परिणाम नहीं दे सकी हैं।

कठिनाइयाँ

श्रम समस्याओं के अधिकारी विद्वानों ने समय-समय पर जिन कठिनाइयों का उल्लेख किया है उनमें प्रमुख हैं—1. प्रबन्धक वर्ग की उपेक्षा, 2. पारस्परिक सद्भाव का अभाव, 3. योजना को समझने मे त्रुटि, 4. श्रमिक संगठन का अभाव, 5. संयुक्त प्रबन्ध परिषदों की सीमावर्ती संस्थाओं का अस्तित्व, 6. श्रम नेताओं का असहयोगपूर्ण रुख, 7. स्थापित परिषदों की सीमित उपलब्धि, 8. श्रमिकों की शिक्षा का अभाव, 9. सार्वजनिक क्षेत्र मे उदासीनता आदि।

सुझाव

प्रबन्ध में श्रमिकों व कर्मचारियों को भाग देना उचित है या नहीं इस प्रश्न को छोड़कर हमें तो यह देखना है कि इस योजना को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय। सरकार को इस सम्बन्ध में प्रचार, सुविधाएँ तथा नियम बनाने चाहिए। श्रमिकों की शिक्षा का कार्यक्रम तेजी से आरम्भ किया जाय। श्रमिकों को अपने अधिकारों की माँग करते समय उत्तरदायित्व को नहीं भूलना चाहिए। उन्हें मन लगाकर पूरी मेहनत से कार्य करना होगा। उधर मालिक को भी समय की गति को पहचानते हुए समझ से काम लेना चाहिए। श्रमिकों को प्रबन्ध मे भाग देकर उनकी सद्भावना, सहयोग व सलाह लेनी चाहिए।

हमारे देश मे इस व्यवस्था की असफलता का एक प्रमुख कारण जातीयता माना गया है। विभिन्न सामाजिक धाराओं से सम्बन्धित व्यक्तियों के उद्योग मे प्रविष्ट होने व प्रवाहित रहने के कारण प्रबन्ध मे कर्मचारीभागिता की व्यवस्था का विकास रुक सा गया है। इसलिए जातीय बन्धनों को शीघ्र ही तोड़ा जाना चाहिए जिससे कि सद्भावना व सहयोग पनप सके। इसके साथ ही इस व्यवस्था की सफलता के लिए एक अनुकूल वातावरण के सृजन की आवश्यकता है। इसके अलावा इसकी सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि एक उद्योग मे एक ही प्रतिनिधि संघ हो ताकि सन्तोषप्रद औद्योगिक सम्बन्धों का निर्माण किया जा सके। कुछ विद्वानों ने इस योजना को कार्यरूप मे लागू करने के लिए निम्न बातों पर जोर दिया है—1 अनुकूल वातावरण का सृजन, 2 श्रमिकों को प्रगति के भागीदार के रूप में स्वीकार करना, 3 श्रम मतवाद का विकास करना, 4. सामूहिक सौदेबाजी को प्रोत्साहन, 5. प्रबन्ध प्रशिक्षण का सूत्रपात।

हमारे देश में कुछ उद्योगपति औद्योगिक लोकतन्त्र का प्रायः यह कह कर विरोध करते हैं कि श्रमिक इस योजना की आड में उद्योग हथियाना चाहते हैं, परन्तु वास्तव मे उनका यह विचार भ्रमपूर्ण है। औद्योगिक लोकतन्त्र की माँग का आधार पूर्णतया नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक है। उद्योग आज के समाज का एक महत्त्वपूर्ण घटक है जिसमे राष्ट्र के जिम्मेदार नागरिक वेतन अथवा मजदूरी पर कार्य करते हैं। श्रमिक वर्ग केवल भृत्ति लेकर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता क्योंकि बाईबिल मे कहा गया है कि "मनुष्य केवल रोटी पर ही जीवित नहीं रहता, उसकी आन्तरिक इच्छा समाज में मानव के रूप मे सम्मान पाने की होती है। वह औद्योगिक उपक्रम को उतना ही अपना समझता है जितना कि उद्योगपति। अन्तर

इतना ही है कि उद्योग में उद्योगपति का धन जहाँ दाव पर लगा होता है वहीं श्रमिक अपना तन, मन, ज्ञान, अनुभव यहाँ तक कि सारा जीवन ही लगा देता है। वह चाहता है कि उद्योगपति व साथ ही सारा समाज मेरे इस त्याग को पहचाने और उसे औद्योगिक समस्याओं पर शिकायत करने का मौका ही न देकर खुले हृदय से विचार करने, सुझाव देने व फिर उसे कार्यान्वित करने का अवसर प्रदान करे।" एलन फ्लेन्डर्स के शब्दों में, "प्रबन्ध मे श्रमिकों का परामर्श लिया जाना आधारभूत रूप से एक नैतिक प्रश्न है। इसका आर्थिक परिणामों से अपना अलग अस्तित्व है। मानव प्राणी होने के नाते उनकी अपनी प्रतिष्ठा है और वे आत्म-सम्मान पाने के अधिकारी हैं।" इस प्रकार यह समस्या मूल रूप से मनोवैज्ञानिक समस्या है। हम श्रमिकों को यह अधिकार देकर उन्हें मशीनी पुर्जा से ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं और उनमें अहम् की सन्तुष्टि करते हैं। यह समस्या सामाजिक इसलिए है क्योंकि यह उद्योगपति व श्रमिक दोनों को ही सामाजिक स्तर पर लाकर बिठा देती है। अतः यह भ्रम मस्तिष्क से बिल्कुल ही निकाल देना चाहिए कि श्रमिक इसकी आड़ मे उद्योगों पर अपना नियन्त्रण जमाना चाहते हैं। वे तो उद्योग के सह प्रत्याशी बनना चाहते हैं।

11 बृहत् व्यवसाय की समस्याएँ

(Problems of Big Business)

विशाल आकार वाली व्यावसायिक संस्था वास्तव में औद्योगिक क्रान्ति की देन है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप होने वाले नए-नए आविष्कारों ने उत्पादन को बड़े पैमाने पर चलाने के लिए विवश कर दिया। प्रत्येक राष्ट्र में ऐसे व्यवसाय मिलेंगे जिन्होंने आर्थिक क्षेत्र में बड़े-बड़े कारखाने और उपक्रम के द्वारा वहाँ के औद्योगिक जगत् में अपनी छाप अंकित कर दी है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में फोर्ड, भारत में बिड़ला, टाटा के बृहत् औद्योगिक साम्राज्य हैं। इनके द्वारा देश का विकास होता है, लेकिन इनकी कुछ समस्याएँ भी हैं जिन्हें निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(1) प्रबन्ध के क्षेत्र में

(i) समन्वय (Co-ordination) की कठिनाई—बड़ी-बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं में प्रत्येक विभाग स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करने लगता है और उनके कार्यों को व्यवसाय के सर्वमान्य उद्देश्यों के अनुसार चलाने में कठिनाई पड़ती है। वैसे भी विभाग जितने अधिक होंगे उनका समन्वय उतना ही कठिन होगा क्योंकि अन्तर-विभाग समस्याएँ उतनी ही अधिक होंगी।

(ii) दफ्तरशाही (Bureaucracy) और लालफीताशाही (Red-tapism)—व्यवसाय जितना विस्तृत होता जाता है उसमें निर्णय के स्तर उतने ही ज्यादा बढ़ जाते हैं फलस्वरूप दफ्तरशाही एवं लालफीताशाही ज्यादा संगीन होती जाती है। फलस्वरूप काम की गति कम और उसको करने के नियम अधिक कठिन हो जाते हैं।

(iii) प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव—व्यवसाय का आकार बढ़ जाने से मुख्य प्रबन्ध अधिकारियों तथा कर्मचारियों के बीच के प्रत्यक्ष सम्पर्क समाप्त हो जाते हैं। इससे उनके बीच के अनौपचारिक मेल-मिलाप कम हो जाते हैं। परिणामस्वरूप अधिकारियों व श्रमिकों के सम्बन्ध अच्छे नहीं रह पाते।

(iv) साहस की भावना का लोप—बड़ी-बड़ी फर्मों के प्रबन्ध अधिकारी नियमों के बन्धन में इस प्रकार जकड़ जाते हैं कि उनमें पहल करने तथा जोखिम उठाने की शक्ति नहीं रह जाती। वे उद्यमी (Entrepreneurs) कम अफसर (Bureaucrat) ज्यादा बन जाते हैं।

जाए या उसमे परिवर्तन आ जाए तो ये बड़ी औद्योगिक सस्थाएँ अपने विपुल लेकिन विशिष्ठ विनियोग का पूरा उपयोग नही कर सकती। फलतः इन्हे हानि उठानी पडती है।

सामाजिक दोष

बडे आकार की व्यावसायिक संस्थाओ मे उपरोक्त आर्थिक दोषों के अतिरिक्त कुछ सामाजिक बुराइयाँ भी हैं। ये निम्न प्रकार से हैं—

(i) एकाधिकार तथा उनके दोषों की सम्भावना;

(ii) स्वामियो तथा उसके कर्मचारियों के बीच सीधे सम्पर्क के अभाव मे श्रम-सम्बन्धी (Labour relations) के बिगड़ने की सम्भावना तथा श्रमिको के शोषण की प्रवृत्ति;

(iii) आर्थिक सत्ता के कुछ हाथो मे केन्द्रित होने की सम्भावना और उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय सम्पत्ति के असमान वितरण की समस्या;

(iv) व्यवसाय जैसे-जैसे बडा होता जाता है उसमें कार्य करने वाले व्यक्तियो मे पहल करने की क्षमता उतनी ही कम हो जाती है। ग्राहकों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क या उनकी आवश्यकताओ की व्यक्तिगत सन्तुष्टि बड़े आकार के व्यवसाय मे सभव नही, तथा

(v) बड़ी-बड़ी औद्योगिक सस्थाओ मे औद्योगिक विवाद वहाँ के स्थानीय नागरिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर देता है।

छोटे आकार की संस्थाओ की लोकप्रियता के कारण
(Reasons for the Popularity of Small Business)

बडे आकार की तुलना मे लघु औद्योगिक सस्थाओ की लोकप्रियता के अपने अलग कारण हैं जिनके फलस्वरूप इनका अस्तित्व कायम है। इनमे मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(i) वस्तुओं के निर्माण मे विविधता तथा विशिष्टता की सुविधा—उन परिस्थितियो मे, जब वस्तुओ के निर्माण मे विविधता, विशिष्टता तथा वैयक्तिक सतुष्टि के गुणो की आवश्यकता हो, लघु औद्योगिक सस्थाएँ विशेष रूप से उपयुक्त हैं। इसका उदाहरण कपडे उद्योग का बुनाई विभाग है। इसमें छोटे-छोटे बुनकर जितनी सरलता से तरह-तरह के डिजाइनो वाली तथा अच्छे किस्म की बुनाई कर सकते हैं वह बडी-बडी मिलो मे सम्भव नही।

(ii) व्यक्तिगत पसन्द की सन्तुष्टि—छोटे उद्योगो की लोकप्रियता का एक विशेष कारण यह भी है कि यहाँ ग्राहको की व्यक्तिगत पसन्द को सन्तुष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—भारत मे अधिकाँश जनता सिले-सिलाए कपड़े खरीदने के *स्थान पर दर्जियो से कपडे सिलवाना अधिक पसन्द करती है, अतः सिले-सिलाए कपड़ों* का उद्योग भारत मे बडे पैमाने पर चालू नही किया जा सकता। इसी प्रकार फोटोग्राफी ऐसा उद्योग है जिसमे वैयक्तिक रुचि का विशेष महत्त्व है और इसे बडे पैमाने पर नही चलाया जा सकता।

(iii) फैशन की वस्तुओं का निर्माण करने वाली संस्था—जिन उद्योगों मे फैशन की वस्तुओं का निर्माण किया जाता है उनका आकार सर्वथा छोटा रहेगा क्योंकि फैशन मे परिवर्तन हो जाने पर इन्हे अपने व्यवसाय की कार्य-प्रणाली और उसके साज-सामान मे भी परिवर्तन करना पडता है।

(iv) हिस्से-पुर्जों का प्रमापीकरण—अनेकों उद्योगो मे, जहाँ प्रमाणित हिस्से-पुर्जों को एकत्रित करके वस्तुओं का निर्माण किया जाता है (जैसे मोटर उद्योग मे), वहाँ छोटे-छोटे उद्योग इन प्रमापित हिस्से-पुर्जों का उत्पादन अधिक कुशलता से कर सकते हैं।

(v) उत्पादन प्रक्रिया की प्रकृति—उन उद्योगो मे जहाँ उत्पादन प्रक्रिया सरल है प्राय: लघु उद्योग अधिक कार्य-क्षम रहते हैं। उदाहरणार्थ, खण्डसारी उद्योग मे, जहाँ उत्पादन प्रक्रिया सरल है उत्पादन छोटे पैमाने पर किया जाता है। जबकि चीनी उद्योग मे, जहाँ उत्पादन प्रक्रिया अधिक जटिल है उत्पादन बडे पैमाने पर किया जाता है।

(vi) अधिक अभिप्रेरणा—छोटे पैमाने के उद्योगों मे स्वामी प्रायः स्वय व्यवसाय की देखरेख करता है जिसके फलस्वरूप वह कारोबार की छोटी-छोटी बातो का उचित ध्यान रख सकता है। व्यवसाय मे यदि कहीं किसी प्रकार की हानि की सम्भावना हो तो वह तुरन्त उससे बचने के लिए युक्ति सोच सकता है। बडे पैमाने के व्यवसाय मे क्योंकि प्रबन्ध का कार्य वेतनभोगी प्रबन्धकों के हाथों मे रहता है। वे न तो व्यक्तिगत रुचि ही लेते हैं और न ही उन्हे छोटी-छोटी हानियो की चिन्ता ही रहती है।

(vii) स्थापित करने मे आसानी और प्रबन्ध चलाने में सरलता—एक छोटे पैमाने के व्यवसाय को स्थापित करना अधिक सरल है क्योंकि प्राय: इसकी स्थापना के लिए न तो किसी वैधानिक औपचारिकता को पूरा करना पडता है और न ही बडी मात्रा मे इसके लिए पूँजी एकत्रित करने के लिए स्थान-स्थान पर भटकना पड़ता है। एक बार व्यवसाय स्थापित हो जाने के बाद प्रबन्ध करना कोई कठिन बात नही है। व्यवसायी स्वय ही उसका कार्य-निर्देशन करता रहता है और उसमे जो थोडे से कर्मचारी नियुक्त किए जाते हैं उनका कार्य भी वह स्वय देखता है। सीधा सम्पर्क होने के कारण मतभेद की सभावना भी कम रहती है।

(viii) सरकार द्वारा सहायता व संरक्षण—अनेकों देशो मे लघु उद्योगो को सरकार द्वारा प्रोत्साहन व संरक्षण दिया जाता है। इनकी लोकप्रियता से आर्थिक सत्ता कुछ हाथों मे केन्द्रित नहीं होने पाती। लघु उद्योगो से अधिकाधिक लोगो को

12 उत्पत्ति-परिमाण और गुण-नियन्त्रण

(Volume of Production and Quality Control)

उत्पाद की अनेक विशेषताओं में उसका गुण भी है, जिसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वह ग्राहक को आकर्षित करता है। किन्तु 'गुण' या 'क्वालिटी' शब्द निरपेक्ष नहीं है। यह तब ही सार्थक होगा जबकि इसका उत्पाद के उद्देश्य एवं अन्तिम प्रयोग के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय। इस प्रकार 'अच्छी' क्वालिटी का अर्थ है कि वस्तु उस आशय के लिए, जिस हेतु उसका उत्पादन हुआ है अच्छी है। बुरी क्वालिटी का अर्थ है कि वस्तु अपने प्रत्याशित आशय की संतुष्टि नहीं कर सकेगी।

इसके अतिरिक्त, क्वालिटी एक अमूर्त शब्द है। इसका वास्तविक अर्थ समझने के लिए हमें इस शब्द को उत्पाद की किसी परिभाषा एवं मापन योग्य विशेषता या विशेषताओं से सम्बन्धित करना चाहिए। अतः निर्माणी वस्तुओं के सम्बन्ध में क्वालिटी शब्द का अर्थ उस विशेषता या विशेषताओं के समूह से है जो एक वस्तु को दूसरी वस्तु से अथवा एक उत्पादक की वस्तु को उसके प्रतियोगी की वैसी ही वस्तु से अथवा एक ही निर्माता द्वारा उत्पन्न की जा रही एक ग्रेड की वस्तु को दूसरी ग्रेड की वस्तु से भिन्न करती है। इस प्रकार, क्वालिटी दो मुखी होती है। एक ओर तो वह वस्तु की पहचान करती है और दूसरी ओर पूर्णता के एक विशेष अंश को इंगित करती है। पूर्णता कितने अंश में है इसका निर्णय किसी पूर्व निर्धारित माप के साथ तुलना के द्वारा ही सकता है।

किसी उत्पाद की क्वालिटी का निश्चय निम्न प्रमुख विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है, डिजाइन, आकार, सामग्री, रासायनिक रचना, मिकेनिकल फंक्शनिंग, इलैक्ट्रिकल विशेषताएँ, कारीगरी, फिनिश और रंग-रूप। क्वालिटी के इन तत्त्वों को दो मुख्य शीर्षकों के अधीन रखा जा सकता है, यथा (अ) डिजाइन की क्वालिटी, जिसका सम्बन्ध निर्मित वस्तु के विनिर्देशों से है, और (ब) कार्यान्वयन की क्वालिटी (Quality of Confermance), जिसका सम्बन्ध उस ढंग से है जिसमें उत्पाद विनिर्देशों की पूर्ति करता है।

क्वालिटी कन्ट्रोल का अर्थ

सरल भाषा में क्वालिटी कन्ट्रोल का आशय क्वालिटी अर्थात् गुण के नियन्त्रण से है। किन्तु यह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, 'क्वालिटी' शब्द तब तक निरर्थक है जब तक कि हम उत्पाद के उद्देश्य और अंतिम प्रयोग की धारणा न करें और शब्द को उत्पाद की कुछ परिभाषा योग्य एवं मापनीय विशेषताओं के साथ सम्बन्धित न करें। इस प्रकार, "व्यापक अर्थ में क्वालिटी कन्ट्रोल उन चलों के व्यवस्थित नियन्त्रण को सूचित करता है जो कि अन्तिम उत्पाद की श्रेष्ठता को प्रभावित करते हैं।"[1]

ये चल वास्तव में मनुष्य, मशीन, सामग्री और मैन्यूफैक्चरिंग दशाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। सभी सामग्रियाँ भूमि, समुद्र अथवा वायु से प्राप्त होती हैं और इसलिए प्रकृति की दया पर निर्भरता के कारण वह अपनी रचना और भौतिक विशेषताओं में एक दूसरे से बहुत भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य अपने काम में कौशल और लगन की दृष्टि से एक दूसरे से विभिन्नता रखते हैं। मशीनें मनुष्यों द्वारा प्रकृतिदत्त सामग्रियों की सहायता से बनाई जाती हैं और परस्पर विभिन्नता रखती हैं। मापक उपकरण भी टूटते और घिसते रहते हैं तथा समय-समय पर असमायोजित हो जाते हैं। निर्माणी दशाएँ (जैसे–तापक्रम, नमी, धूल और गर्द) भी बहुत विभिन्न होती हैं। अतः क्वालिटी कन्ट्रोल तब ही विद्यमान कहा जा सकता है जबकि ये चल इस सीमा तक नियमित किए जाएँ कि वह तैयार माल की श्रेष्ठता में प्रतिबिम्बित होने वाली निर्माणी क्रिया की अच्छाई से अनावश्यक रूप में विचलित न हो सकें।

क्वालिटी कन्ट्रोल का क्षेत्र

क्वालिटी-कन्ट्रोल-प्रोग्राम की प्रायः चार विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं; यथा— (अ) निरीक्षण, जिसके द्वारा दोष-पूर्ण माल को अच्छे माल से अलग किया जाता है ताकि उपभोक्ताओं तक केवल अच्छा माल ही पहुँचे, (ब) ऐसा निरीक्षण जो कच्चे माल में या इस माल के प्रोसेसिंग में दोषों का पता लगाने से सम्बन्धित है ताकि निर्माण में कठिनाइयाँ न उत्पन्न हो सकें, (स) निरीक्षण की जाँच, जिससे उन बिन्दुओं का ज्ञान हो सके जहाँ कन्ट्रोल ढीला पड़ रहा है, तथा (द) निर्माण क्रिया के दौरान रद्द हुए माल को सुधारना।

क्वालिटी कन्ट्रोल के उद्देश्य

क्वालिटी कन्ट्रोल का प्रमुख उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि निर्मित किए जा रहे उत्पाद ग्राहकों की माँग के आधार पर निर्धारित विनिर्देशों के अनुरूप ही बनें। इसके अन्य उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—(i) मितव्ययिता का उचित ध्यान रखते

1. "In the broadest sense, quality control stands for the systematic control of those variables which affect the excellence of the end product."
—*Bethel, Atwater, Smith and Stackman*: Industrial Organisation and Management, pp. 317–18.

हुए ग्राहक को सहज पसन्द आने योग्य वस्तु के गुण (डिजाइन, आकार, सामग्री, कारीगरी, फिनिश, रूप-रंग, मिकेनिकल फंक्शनिंग, रासायनिक रचना आदि) को नियन्त्रित करना, (ii) निर्माण-क्रिया के बीच पूर्व निर्धारित गुण-प्रभावों से जो विचलन हुए हों उनका विश्लेषण करना और उनके कारणों का पता लगाना, (iii) गुण में वांछित स्तर से कमी आने की रोकथाम के लिए उपचारात्मक कदम उठाना, एवं (iv) जहाँ तक उचित रूप में सभव हो, घटिया किस्म के उत्पाद ग्राहकों तक पहुँचने से रोकना।

क्वालिटी कन्ट्रोल का महत्व

क्वालिटी कन्ट्रोल निर्माणी क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण विकास है। यह खरीदी जाने वाली सामग्रियों और निर्मित होने वाले उत्पाद के गुण एवं इकसारिता-स्तर को ऊँचा उठाता है और कई प्रकार से लागत मे कमी सम्भव बनाता है। वह रद्द अथवा दुबारा काम मे लिए जाने वाले उत्पादों में निहित श्रम एवं सामग्री लागतों की बचत करता है। सामग्रियों एवं श्रम के बेहतर उपयोग द्वारा उत्पादन मे मितव्ययता लाता है और घटिया उत्पादों का निर्माण रोककर बेहतर कीमतें दिलाता है। यह लोगों को गुण सवेदनशील बनाता है। उत्पादक और उपभोक्ताओं के आपसी सम्बन्धों को सुधारता है। उत्पादों के डिजाइन एवं निर्माण प्रक्रियाओं को उन्नत करता है और उत्पाद एवं सक्रियाओं के विकास हेतु तकनीकी ज्ञान एवं इन्जीनियरी आँकड़े अधिकाधिक सुलभ करता है।

उत्पादों को उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने की समस्या आज बहुत गम्भीर बन गई है। यदि उत्पाद उपभोक्ताओं की माँग के आधार पर निर्धारित विनिर्देशों के अनुरूप नहीं है, तो वे पर्याप्त सन्तोष प्रदान नहीं कर सकेंगे और उनके स्थानापन्नों के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। गुण प्रमाप निश्चित होने चाहिएँ, यह वर्तमान युग की माँग है, क्योंकि यदि कोई कारखाना एक निश्चित प्रमाप के समान उत्पाद नहीं बनाएगा तो जनता उनमे रुचि नहीं लेगी। अत. उत्पादकों को गुण सम्बन्धी प्रमाप निर्धारित कर देने चाहिएँ और फिर उनका कड़ाई से पालन भी करना चाहिए। इस दिशा मे क्वालिटी कन्ट्रोल बहुत सहायक है। यही कारण है कि आधुनिक औद्योगिक एवं व्यावसायिक जगत मे उसकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है।

रॉबर्ट डब्ल्यू केन्ट (Robert W Kant) के अनुसार, "क्वालिटी दो प्रकार से लाभ मे वृद्धि करती है—प्रथमतः वह प्रोडक्ट की विक्रय-अपील को बढ़ा देती है। दूसरे, वह उपभोक्ताओं की स्वीकृति और सन्तुष्टि को कम नहीं होने देती तथा लागत को बढ़ाने की अपेक्षा घटाती है।"

क्वालिटी कन्ट्रोल के ढंग

एक सफल क्वालिटी कन्ट्रोल-टैक्निक के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं—(i) निर्मित होने वाले उत्पादकों की क्वालिटी के लिए सक्षम कर्मचारियों पर जिम्मेदारी डाली जाए, (ii) पहिले से ही एक स्पष्ट गुण प्रमाप निर्धारण कर देना चाहिए, और (iii) एक व्यवस्थित एवं अत्याज्य नित्य चर्चा का पालन किया जाए

ताकि प्रमाप का इकसार पालन होता रहे। एक विशाल निर्माणी संस्था का क्वालिटी कन्ट्रोल विभाग क्वालिटी कन्ट्रोल के लिए निम्नांकित प्लान अपना सकता है—

(1) प्रमाप व विनिर्देश (*Standards and Specifications*) —*निर्मित* या तैयार माल की क्वालिटी कच्चे माल की क्वालिटी पर निर्भर करती है। यह फिर प्रमापों एवं विनिर्देशों के द्वारा स्थापित की जाती है। इस प्रकार प्रमापों और विनिर्देशों की भूमिका किसी भी क्वालिटी कन्ट्रोल प्रोग्राम में बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। क्वालिटी कन्ट्रोल विभाग का सबसे पहला कार्य है प्रमाप निश्चित करना। यह काम विशेषज्ञ–इंजीनियरों द्वारा क्रय, विक्रय, निर्माण एवं निरीक्षण विभागों के निकट सहयोग से निष्पादित होना चाहिए। प्रमाप सुनिश्चित और स्पष्ट होने चाहिएँ। इसके लिए ड्राइंग, विनिर्देश-सीट, ब्लूप्रिंट्स, शुद्ध फार्मूले आदि प्रयोग किए जाने चाहिएं। प्रमाप एवं विनिर्देश निश्चित करते समय यह भी विचार में लेना चाहिए कि इनसे सम्य विचलन (Permissible Variations) की सीमाएँ क्या हों। क्षम्य विचलन के क्षेत्र की दो सीमाएँ होनी चाहिएँ–अपर एवं लोअर। इस प्रकार *3·00 + ·006 से पता चलता है कि क्षम्य विचलन बुनियाद अथवा आदर्श कसौटी से जो कि (3·00 है) या तो (+) ·006 हो सकता है अथवा (–) ·006।*

(2) निरीक्षण—कारीगरी के प्रभावीकरण, इकसारिता और क्वालिटी के विकास का सबसे प्रचलित ढंग निरीक्षण करना है। निरीक्षण की तुलना एक स्क्रीनिंग मशीन से की जा सकती है। जिस प्रकार एक्सरे मशीन यह साफ-साफ बता देती है कि रोग के वास्तविक कारण क्या हैं उसी प्रकार निरीक्षण व्यवस्था घटिया कारीगरी के कारणों को प्रकट कर देती है और इस तरह उचित सुधारात्मक उपाय करने के मार्ग बनाती है। अविलम्ब निरीक्षण दोष के लिए जिम्मेदारी निश्चित करने, त्रुटियाँ छुपाने के प्रयास निष्फल करने और समयोचित तथा शीघ्र उपचारात्मक कार्रवाई करने में सहायक होता है।

(3) *निरीक्षण का संगठन—निरीक्षण की व्यवस्था करने में सबसे पहली चीज उन विशेष दशाओं का अध्ययन करना है जो कि उपक्रम के चालन को* प्रभावित करते हैं और फिर इन दशाओं की अनुसारता में स्कीम निर्धारित करना है। दूसरी चीज निरीक्षण-बिन्दु (Inspection Points) स्थापित करना है। ऐसे अनेक बिन्दु हुआ करते हैं जहां दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः निरीक्षण बिन्दुओं की स्थापना का मतलब ऐसे बिन्दु का पता लगाना है जहाँ इस तरह का निरीक्षण करना सम्भव हो कि कार्य एक पूर्व निर्धारित गुण के अनुरूप नियमित रूप से होना चले। निरीक्षण के महत्त्वपूर्ण बिन्दु कारखाने में सामग्री की प्राप्ति से लेकर पूर्ण उत्पाद में बदलने तक कहीं भी विद्यमान होते हैं। उत्पादन चक्र में भी निरीक्षण बिन्दु निहित रहते हैं। निरीक्षण का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु तब भी मिलता है जबकि उत्पाद तैयार माल के स्टाक रूप में लदान किए जा रहे हों।

निरीक्षण विषयक ले-आउट-प्लान को निरीक्षण-बिन्दुओं की स्थापना के तुरन्त बाद ही तय कर लेना चाहिए। निरीक्षण का ढंग 'स्थल पर निरीक्षण' करने

का या एक केन्द्रीय स्थान मे निरीक्षण करने अथवा इन दोनो का मिश्रित तरीका हो सकता है। प्रत्येक दशा मे निरीक्षक को उसके कर्त्तव्यों की स्पष्ट सूचना होनी चाहिए और उसे आधुनिकतम एवं उपयुक्त निरीक्षण तकनीक से परिचित होना चाहिए। निरीक्षकों का चुनाव बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। ये लोग सूक्ष्म एव सही निर्णय करने की सामर्थ्य वाले होने चाहिएं।

निरीक्षण के रेकॉर्ड्स ठीक-ठीक रखे जाने चाहिएँ। बड़ी निर्माणी संस्थाओं में इन रेकार्ड्स को सुरक्षित रखना महत्त्वपूर्ण होना है। आदर्श इन्सपेक्शन रेकार्ड्स मे प्राय. इन्सपेक्शन कार्ड्स अथवा टिकट्मि होते हैं। इन कार्ड्स की व्यापक जाँच-पड़ताल किसी भी दोष के लिए जिम्मेदारी निश्चित करने और ऐसी त्रुटियाँ भविष्य मे न होने देने मे सहायक होती हैं।

उत्पत्ति-नियन्त्रण की विधियों और निर्माण के ढंगों की समय-समय पर जाँच करते रहना चाहिए, क्योंकि इससे प्रबंधको को यह भरोसा रहता है कि बर्बादी की रोकथाम तथा प्रोसेज स्टेन्डर्ड्स के संशोधन व सुधार पर पहले की भाँति अधिकतम ध्यान दिया जा रहा है।

13

आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण तथा स्वामित्व एवं प्रबन्ध में पृथकता, प्रबन्ध का क्रियान्वयन और सामाजिक उत्तरदायित्व

(Concentration of Economic Power and Divorce Between Ownership and Management, Functionalisation of Management and Social Responsibility)

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण से आशय

सामान्य अर्थों मे राष्ट्रीय उत्पादन व उसकी वितरण व्यवस्था के कुछ एक हाथो मे नियन्त्रित हो जाने की प्रवृत्ति को आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण कहते हैं। ध्यान रहे व्यावसायिक सस्थाओ के वृहत् आकार को केन्द्रीयकरण नही कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति के साधनो का अधिक क्षमतापूर्ण एव मितव्ययी ढग मे उपयोग करने हेतु प्राय: सरकारें स्वयं सयोजन पद्धति को प्रोत्साहित करती हैं। वास्तव मे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण अपने मे एक अत्यन्त विस्तृत शब्द है जिसकी अभी तक कोई निश्चित परिभाषा नही दी जा सकी है। हाँ, सम्भवतया महालनोबिस समिति ने ही इसे सर्वप्रथम परिभाषित करने का प्रयास किया था। समिति ने केन्द्रीयकरण को दो अर्थों मे प्रयुक्त किया—एकाधिकार की स्थिति अर्थात् आर्थिक शक्ति का सामान्य केन्द्रीयकरण तथा कुछ फर्मों की बाजार मे प्रभावशाली स्थिति अर्थात् स्थानीयकृत औद्योगिक केन्द्रीयकरण। सन् 1964 मे स्थापित एकाधिकार आयोग ने भी आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को दो रूपों मे अध्ययन किया था। प्रथम रूप मे आर्थिक शक्ति का सकेन्द्रण तब होता है जब किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन अथवा वितरण का नियन्त्रणात्मक शक्ति पूँजी के स्वामित्व के कारण किसी एक प्रतिष्ठान अथवा प्रतिष्ठानो के समूह के हाथ मे हो, भले ही यह प्रतिष्ठान किसी एक *परिवार अथवा कुछ परिवारो अथवा व्यापार गृहो द्वारा नियन्त्रित किए जाते हो।* इस प्रकार के सकेन्द्रण को आयोग ने उत्पादवार केन्द्रीयकरण की सज्ञा दी।

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण और एकाधिकार में अन्तर

आम तौर से आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण और एकाधिकार को समान अर्थों अर्थात् पर्यायवाची रूप मे प्रयोग किया जाता है जो कि गलत है। इन दोनों शब्दों में समानता होते हुए भी काफी अन्तर है। एकाधिकार से अभिप्राय किसी उत्पादन

अथवा उद्योग मे एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न होने से है। जबकि आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का अर्थ सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे नियन्त्रणात्मक या महत्त्वपूर्ण शक्ति का सृजन होना है। स्पष्ट है कि एकाधिकार आर्थिक सकेन्द्रण का एक अग है जो धीरे-धीरे विकसित होकर पूर्ण सकेन्द्रण का रूप ले लेता है।

डॉ० हजारी ने इन दोनो का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "एकाधिकार से आशय उद्योग अथवा बाजार विशेष मे एकाधिकार से है जबकि आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण से आशय पूँजी मे एकाधिकार प्राप्त करने से है।"

डॉ० पीगू के अनुसार, "एकाधिकार आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण का एक सीमित रूप है जिसका उद्देश्य बाजार व उद्योग विशेष पर प्रभुत्व जमाते हुए अन्ततः आर्थिक सकेन्द्रण की शक्ति प्रदान करना है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से ये तीनों विकल्प घातक हैं क्योकि इनका विकास शोषण और विषमता पर आधारित है।"

भारत में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण

भारत मे औद्योगिक प्रक्रिया मे प्रगति के साथ-साथ आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रगति स्पष्ट रूप से दिखलाई पडती है। कम्पनी अधिनियम 1956 के लागू होने तक भारत मे आर्थिक शक्ति थोडे से प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृहो के हाथ में केन्द्रित थी। इन प्रबन्ध अभिकर्त्ता गृहो का इनके द्वारा प्रबन्धित औद्योगिक इकाइयो के वित्तीय साधनो पर नियन्त्रण था। इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्योगो के कुल उत्पादन के महत्त्वपूर्ण भाग पर भी इनका नियन्त्रण होने से इनके लिए एकाधिकारी शक्ति का दुरुपयोग कर पाना सम्भव था। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के इस प्रभाव का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक वित्त का विभिन्न इकाइयो के मध्य अनुचित हस्तान्तरण होने लगा। इसके अतिरिक्त उत्पादित माल पर एकाधिकारी नियन्त्रण ने अवांछनीय सट्टे को प्रोत्साहन दिया।

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का वास्तविक रूप पता करने के लिए यह मालूम करना आवश्यक है कि एक ही व्यक्ति के पास कितने सचालक पद हैं। अशोक मेहता द्वारा इस सम्बन्ध मे दी गई जाँच से पता चलता है कि विभिन्न उद्योगो मे 3728 सचालक पदो मे से 805 केवल 20 व्यक्तियों के पास थे। सचालक पदो का केन्द्रीयकरण किसी भी एक उद्योग की विशेषता नही है। कोयला, जूट, सूती वस्त्र, सीमेन्ट आदि सभी प्रमुख उद्योगो मे यह लक्षण समान रूप से विद्यमान है।

अभी हाल ही मे आर के हजारी ने भारत मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की जाँच की है। उनकी जाँच द्वारा पता चला है कि 1951 से 1958 के मध्य के वर्षो मे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण मे वृद्धि हुई है। डॉ० हजारी के अनुसार इस समय भारत मे सबसे बडे चार ग्रुप हैं—टाटा, बिडला, मार्टिन बर्न तथा डालमिया साहू जैन।

भारत के सभी प्रमुख ग्रुपों के हित विविध उद्योगो मे वितरित हैं। इसलिए इनके उद्योग विशेष पर एकाधिकारी नियन्त्रण नही है। टाटा ग्रुप के हित मुख्यतः लोहा व इस्पात, इन्जीनियरिंग व बिजली निर्माण में हैं। परन्तु इस ग्रुप का सम्बन्ध

उदाहरणार्थ 50 लाख तथा इससे अधिक प्रदत्त पूँजी वाली कम्पनियों की संख्या कम्पनियो की कुल संख्या का 16 प्रतिशत थी, परन्तु इनमे कुल प्रदत्त पूँजी का 53·1 प्रतिशत भाग लगा हुआ था जबकि इसके विपरीत देश मे 86 प्रतिशत संख्या ऐसी कम्पनियो की थी जिनकी प्रदत्त पूँजी 5 लाख रुपये से कम थी, परन्तु इन कम्पनियो की प्रदत्त पूँजी कुल प्रदत्त पूँजी की केवल 14·6 प्रतिशत थी।

2. आर्थिक क्षेत्र सम्बन्धी निष्कर्ष—समिति का मत था कि आय व सम्पत्ति की दृष्टि से देश मे आर्थिक विषमताएँ पहले से ही बहुत अधिक थी, परन्तु आयोजन के पिछले 14 वर्षों मे यह और भी अधिक बढ गई है।

3. सामान्य निष्कर्ष—इसके अलावा समिति द्वारा कुछ सामान्य निष्कर्ष भी निकाले गए जो इस प्रकार हैं—1. योजना काल मे आय वितरण की दिशा मे कोई विशेष सुधार नही हो सका, 2. सरकार की करारोपण नीति आर्थिक समानता लाने मे असफल रही है, 3. सरकार द्वारा अपनाई गई आयोजन नीति, प्रशुल्क नीति व घाटे की वित्तीय व्यवस्था ने धनी वर्ग को ही लाभ पहुँचाया है।

(ख) एकाधिकार जांच आयोग—एकाधिकार जांच आयोग का गठन 16 अप्रैल 1964 को सुप्रीम कोर्ट के एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश श्री के सी. दास गुप्ता की अध्यक्षता मे किया गया। इस आयोग द्वारा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण का अध्ययन मुख्यतः दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया—उत्पादनानुसार व क्षेत्रानुसार केन्द्रीयकरण।

1. उत्पादनानुसार संकेन्द्रण—आयोग ने उत्पादन मे केन्द्रीयकरण की मात्रा व सीमा को तीन वर्गो मे बाँटा है—अधिकतम, मध्यम व साधारण केन्द्रीयकरण। इसका आधार यह रखा गया कि जिस वस्तु के उत्पादन मे सबसे बडे तीन उत्पादकों का भाग 75% से अधिक था संकेन्द्रण की सीमा "अत्यधिक" मानी गई। इसके विपरीत जिन वस्तुओ के उत्पादन पे तीन सर्वोच्च उत्पादको का भाग 60% से 75% के बीच था वहाँ केन्द्रीयकरण मध्यम समझा गया व 50% से 60% के बीच की स्थिति को साधारण केन्द्रीयकरण की सज्ञा दी गई व 50% से कम की स्थिति को केन्द्रीयकरण की अनुपस्थिति मानी गई।

2 क्षेत्रानुसार संकेन्द्रण—इस दृष्टि से किए गए अध्ययन के अनुसार आयोग ने निष्कर्ष निकाला कि 2259 कम्पनियो पर 83 व्यापारिक समूहो अर्थात् प्रतिष्ठानो का पूर्ण नियन्त्रण बना हुआ है। आयोग ने यह भी कहा कि आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण मे टाटा सबसे आगे है व दूसरे स्थान पर बिडला ग्रुप है। उदाहरणार्थ टाटा के अधीन 53 कम्पनियाँ हैं जिनमे 417 8 करोड की सम्पत्ति लगी हुई है। जबकि बिडला ग्रुप के हाथ मे 151 कम्पनियाँ हैं जिनकी सम्पत्ति का मूल्य 292 7 करोड रुपया है। कम्पनी मामलो के अध्यक्ष श्री वी. सी दत्ता द्वारा किए गए सर्वेक्षण से पता चलता है कि सन् 1961 से 1968 के बीच आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण और अधिक बढा है। एकाधिकार जांच आयोग ने औद्योगिक गृहो की संख्या केवल 15 ही मानी जबकि इस विभाग ने ऐसे 30 गृहो का वर्णन किया है जो राष्ट्रीय सम्पत्ति पर पूर्ण अंकुश जमाए बैठे हैं।

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए कुछ सुझाव

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए दो प्रकार के प्रयास करना सम्भव है–(1) राज्य वर्तमान वृहत ग्रुपो को तोडकर उनके भावी विकास पर नियन्त्रण लगा सकता है,(2) सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ मध्यम और छोटे आकार के प्रतिष्ठानो को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(1) वृहत ग्रुपो को तोडना इतना सहज नही है जितना सामान्यत समझा जाता है। विधान के अन्तर्गत 'कॉर्पोरेट' ग्रुप की परिभाषा दे सकना सम्भव नहीं है। भारतीय कम्पनीज अधिनियम ग्रुप की व्याख्या नही करता। यदि किसी प्रकार के ग्रुप की परिभाषा देना सम्भव भी हो तो यह निर्धारित करना कठिन होगा कि किस सीमा तक ग्रुपो को बढने दिया जाए व किस आकार के ग्रुपो को तोडा जाय। इस सम्बन्ध मे कोई वैधानिक आधार निर्धारित कर सकना सम्भव नही है।

आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के उपचार मे प्राय राष्ट्रीयकरण का सुझाव दिया जाता है, परन्तु औद्योगिक ग्रुपो का राष्ट्रीयकरण किसी भी देश मे अभी तक नहीं हुआ। इगलैंड मे कुछ उद्योगो व फ्रांस मे कुछ कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हुआ है, परन्तु ग्रुपों के राष्ट्रीयकरण की दिशा मे अभी प्रयोग होना बाकी है। औद्योगिक ग्रुपो के राष्ट्रीयकरण करने मे सबसे बडी कठिनाई इनके द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यो की विविधता और उनके नियन्त्रण मे कम्पनियो के आकार मे अन्तर है। इसके अलावा ग्रुप के नियन्त्रण के सभी कम्पनियो को पहिचानना सहज नही है। अस्तु औद्योगिक ग्रुपो को राष्ट्रीयकरण द्वारा तोड सकना सहज नही है।

औद्योगिक ग्रुपो को तोडने के विरुद्ध प्राय आर्थिक तत्त्व भी दिए जाते हैं। भारत मे पूँजी का अभाव है और निजी क्षेत्र मे औद्योगिक ग्रुपो पर वैधानिक नियन्त्रण लगा देने से उनका आगमन हतोत्साहित होगा। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध कौशल इस देश मे दुर्लभ है। औद्योगिक ग्रुप पर राज्यो द्वारा प्रहार करने का परिणाम यह होगा कि निजी क्षेत्र मे प्राप्य प्रबन्ध कौशल, साहस, तकनीकी ज्ञान की उपलब्धि कठिन हो जाएगी अत वर्तमान परिस्थितियों मे औद्योगिक ग्रुपो को तोडना युक्ति सगत नहीं है।

भारत मे वृहत औद्योगिक ग्रुपो के विघटन से औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक विविध वस्तुओ का उत्पादन गिर जाने की सम्भावना है। उदाहरणार्थ टाटा तथा मार्टिन बर्न के विघटन से लोहा व इस्पात, बिजली और इन्जीनियरिंग पदार्थों का उत्पादन कम हो सकता है। दीर्घकाल में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण को कम करने के लिए मध्यम व लघु आकार के ग्रुपों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। डॉ॰ हजारी की जाँच के अनुसार भारत के मध्यम आकार के ग्रुपो के पास वृहत औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए समुचित मात्रा मे पूँजी तथा प्रबन्धकीय कौशल की व्यवस्था कर सकने की क्षमता है। कुछ मध्यम आकार के ग्रुपों का कुशलता का स्तर वृहत ग्रुपों से ऊँचा है। किर्लोस्कर का इन्जीनियरिंग, मफतलाल व कस्तूरभाई का सूती वस्त्र, रामकृष्ण का चीनी तथा सीमेन्ट और शेषसायी का रसायन उद्योग मे कार्य बडे ग्रुपों से कहीं अच्छा है। भारत सरकार इसी प्रकार के अत्यधिक कुशल

ग्रुपों को विभिन्न प्रकार से प्रोत्साहन दे सकती है। नवीन प्रतिष्ठानों की स्थापना के लिए अनुज्ञा-पत्र देते समय अथवा राज्य स्रोतों में वित्त की व्यवस्था व विदेशी विनिमय के लिए राज्य के लिए इन्हें प्राथमिकता देना सम्भव है। बहुधा वृहत ग्रुप अपने आप को मध्यम ग्रुप सिद्ध कर अनुचित लाभ उठाने का प्रयास करते हैं। अत. इस सम्बन्ध में काफी सतर्कता की आवश्यकता है। अर्थ-व्यवस्था में वृहत ग्रुपों के प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है, परन्तु इससे आर्थिक शक्ति सरकार के हाथ में केन्द्रित होने लगती है और उनका विकेन्द्रीयकरण नहीं हो पाता। अतः इस नीति को व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं है। डॉ० हजारी के अनुसार जब तक मध्यम व लघु आकार के ग्रुप पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हो पाते, उस समय तक केवल राज्य के लिए ही वृहत ग्रुपों की शक्ति का प्रतिरोध सम्भव है।

स्वामित्व एवं प्रबन्ध में भिन्नता
(Divorce Between Ownership and Management)

व्यावसायिक जगत में आजकल जितने भी बड़े-बड़े उपक्रम हैं, उनका सचालन कम्पनी रूपी व्यवसाय द्वारा होता है। किन्तु कम्पनी एक कृत्रिम व्यक्ति है जिसे अधिनियम द्वारा प्राकृतिक व्यक्ति की भाँति समस्त कार्यों को करने का अधिकार प्राप्त होता है। इन कार्यों को पूरा करने के लिए प्राकृतिक व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक है। एक कम्पनी का प्रबन्ध एव सचालन एकाकी तथा साझेदारी प्रबन्ध से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि एक कम्पनी के स्वामी अंशधारी होते हैं जिनकी सख्या प्राइवेट कम्पनी में 50 और पब्लिक कम्पनी में असीमित होती है। चूँकि अंशधारी विशाल सख्या में होते हैं तथा देश के कोने कोने में फैले हुए होते हैं तथा कम्पनी की कार्यविधियों से अपरिचित होते हैं, अत वे प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के प्रबन्ध में हिस्सा नहीं ले सकते। यह कम्पनी की सबसे बड़ी विशेषता है जहाँ स्वामित्व और प्रबन्ध में भिन्नता है। ऐसी स्थिति के लिए निम्न कारण भी जिम्मेदार हैं—

सर्वप्रथम, कम्पनी का अस्तित्व शेयरधारियों से भिन्न होता है और एक शेयरधारी कई कम्पनियों का शेयरधारी हो सकता है यदि किसी कम्पनी के प्रबन्ध में प्रत्येक ऐसे शेयरधारी को भाग लेने का अधिकार दे दिए जाएँ तो सम्भव है कि वह इस प्रकार की गोपनीय जानकारी को प्रतियोगी व्यवसाय चलाने के लिए उपयोग कर ले और इस प्रकार कम्पनी को हानि उठानी पड़े।

द्वितीय, कम्पनी के शेयरधारी विविध विचारों, पेशों तथा व्यवसायों से सम्बन्ध रखते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उन सबको कम्पनी द्वारा सचालित व्यवसाय के विषय में जरूरी ज्ञान अथवा पर्याप्त अनुभव हो। फलस्वरूप, उन सबको प्रबन्ध का समान अधिकार देना कम्पनी के कुशल सचालन के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

अन्त में कम्पनी के शेयरधारियों की सख्या इतनी अधिक होती है कि उन सबको प्रबन्ध का कार्य नहीं सौंपा जा सकता। किसी ने ठीक ही कहा है—"बहुत में जोगी मठ उजाड़" (Too many cooks spoil the broth)।

इन सब कारणों के फलस्वरूप, कम्पनी का प्रबन्ध शेयरधारियो को केवल नाममात्र का भी अप्रत्यक्ष रूप से दिया जाता है। वे एक साधारण बैठक में अपने प्रतिनिधियो को जो योग्य, अनुभवी और कर्त्तव्यपरायण होते हैं सचालक के रूप मे निर्वाचित कर देते हैं और ये सचालक (Directors), एक मण्डल (Board) के रूप मे कम्पनी का प्रबन्ध चलाते हैं और कम्पनी की बागडोर इन मुट्ठी भर लोगो के हाथ मे सदा के लिए चली जाती है। शेयरधारी केवल पूँजी लगाते हैं और कम्पनी की सफलता व असफलता की जोखिम उठाते हैं, प्रबन्ध मे उनका कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नही होता। इसी कारण यह कहा भी गया है कि शेयरधारी न कुछ करते हैं, न कुछ जानते हैं और न उन्हे कुछ मिलता है (Shareholders do nothing, know nothing and get nothing)।

प्रबन्ध का क्रियान्वयन
(Functionalisation of Management)

सभी व्यावसायिक उपक्रमो को अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कुछ निर्दिष्ट क्रियाएँ सम्पन्न करनी पडती हैं। ये सभी क्रियाएँ प्रबन्ध की सामान्य प्रक्रिया द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। उदाहरणार्थ एक व्यापार कर रही इकाई की क्रय, विक्रय व भण्डारण—ये तीन मुख्य क्रियाएँ होती है। इसी के साथ-साथ उसे लेखापाल व वित्तीय व्यवस्था का भी प्रबन्ध करना पडता है। इसी प्रकार एक निर्माणी सस्था मे उत्पादन, क्रय, विक्रय, लेखापाल एव वित्त कार्य तथा सेवीवर्गीय प्रबन्ध आदि क्रियाएँ सम्पादित की जानी हैं। इन सभी क्रियाओं को मूल तथा सेवा कार्यों को दो भागो मे बाँटा जाता है। ये सभी कार्य अपने-अपने क्षेत्रो मे विशेष योग्यता प्राप्त अनुभवी तथा पूर्णकालीन अधिकारियो द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं। आधुनिक उपक्रमो मे इन सभी कार्यों को करने के लिए उच्च स्तर की विशिष्ट तकनीक तथा व्यावसायिक क्षमता की आवश्यकता होती है। इसी के साथ इन सभी कार्याध्यक्षों को यह भी आवश्यक होता है कि उनका अपने कार्य तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति उपयुक्त रुख हो उन्हें उपक्रम के समग्र परिवेश से अच्छा परिचय हो, प्रबन्धकीय क्षमताओ तथा सामाजिक दक्षताओ की विधिवत् जानकारी हो। इन सभी बातों के होने पर ही यह सम्भव है कि वे अपने कर्मचारियो को उपक्रम के सामान्य तथा सर्वस्वीकृत लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा मे प्रवृत्त तथा प्रेरित कर सकते हैं।

प्रबन्ध एक सार्वभौमिक शब्द है और उसका क्षेत्र व्यापक है। इसलिए प्रबन्धकीय क्रियाओ का क्षेत्र तथा उनकी सीमा निर्धारित करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रबन्ध के विभिन्न क्रियात्मक क्षेत्रों को वर्गीकृत करने मे इगलैण्ड मे शिक्षा मन्त्रालय का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसने "प्रबन्धकीय शिक्षा" नामक अपने प्रतिवेदन मे प्रबन्ध को 9 वर्गो मे विभाजित किया था जो निम्न प्रकार से है—

(1) उत्पादन प्रबन्ध—इसके अन्तर्गत उत्पादन मात्रा का निर्धारण, कार्य विश्लेषण, कार्य सूचीयन, उत्पादन नियोजन, गृह नियन्त्रण, समय एवं विधि अध्ययन तथा उत्पादन-क्रम का निश्चय करना आदि आते हैं।

(2) **वित्तीय प्रबन्ध**—इसके अन्तर्गत आर्थिक पूर्वानुभव, लेखा पालन, लागत नियन्त्रण, बजेटरी नियन्त्रण, सांख्यिकी नियन्त्रण, पूँजी लागत तथा वित्त प्रबन्धन की विभिन्न समस्याएँ आती हैं।

(3) **विकास प्रबन्ध**—इसके अन्तर्गत औद्योगिक एवं तकनीकी शोध, सामग्री व सयन्त्रों में अन्वेषण, उत्पाद प्रभिकल्पन तथा वस्तु-विकास आदि आते हैं।

(4) **वितरण प्रबन्ध**—इसे विपणन प्रबन्ध भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत वस्तु विपणन, विपणि अन्वेषण विज्ञान, बिक्री तथा वितरण की व्यवस्था, आन्तरिक बाजार एवं निर्यात व्यापार की व्यवस्था आदि आते हैं।

(5) *क्रय प्रबन्ध—इसके अन्तर्गत कच्चे माल के सप्लायर्स से टेण्डर मांगना,* आदेश देना, माल खरीदना, सामग्री का संग्रहण व नियन्त्रण आदि क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।

(6) **परिवहन प्रबन्ध**—इसके अन्तर्गत माल का सर्वेक्षण करना, गोदाम में इकट्ठा रखना तथा परिवहन की विभिन्न संस्थाओं द्वारा माल भेजना आदि आते हैं।

(7) **संस्थापन प्रबन्ध**—इसके अन्तर्गत सयन्त्र, भवन, मशीनों तथा अन्य सामग्री आदि का रख-रखाव तथा उचित देखभाल आदि आते हैं।

(8) **सेवीवर्गीय प्रबन्ध**—इसके अन्तर्गत श्रम शक्ति का पूर्वानुमान, चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति, सेवा निवृत्ति, अवनति, औद्योगिक सुरक्षा, श्रम कल्याण, औद्योगिक सम्बन्धों में सुरक्षा तथा अन्य आवश्यक बातें आती हैं।

(9) **कार्यालय प्रबन्ध**—यह अन्तिम वर्ग है। इसके अन्तर्गत अभिलेख व्यवस्था, सम्प्रेषण व्यवस्था तथा फैक्ट्री के सभी कार्यालयों का प्रबन्ध एवं सुचारु सचालन सम्मिलित होते हैं। एक विशिष्ट प्रकृति की औद्योगिक संस्था में जो वस्तुओं का निर्माण व विक्रय करती हैं प्राय. निम्न 5 क्रियाएँ आवश्यक रूप से सम्मिलित की जाती हैं—उत्पादन, विपणन, वित्त एवं लेखांकन, क्रय, सेवीवर्गीय प्रबन्ध। इन सभी क्रियाओं का प्रत्येक का अपना विभागीय संगठन होता है। अपनी नीतियाँ एवं पद्धतियाँ होती हैं और इन्हें किसी विभागीय अध्यक्ष द्वारा संचालित तथा नियन्त्रित किया जाता है।

प्रबन्धकीय समन्वय की समस्या—क्रियात्मक आधार पर संगठित उपरोक्त सभी विभागों में समन्वय स्थापित करना प्रबन्धकीय समन्वय की प्रमुख समस्या है। किसी भी संगठन रचना पर दृष्टि डालने से यह स्पष्टतया दिखाई पड़ता है कि उपक्रम में समन्वय की कितनी आवश्यकता है। प्रत्येक विभागीय अध्यक्ष को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों और अधिकारों का समन्वय करना होता है और उन सभी के कार्यों का समन्वय एक महाप्रबन्धक द्वारा किया जाता है। प्रथम प्रकार का समन्वय लम्बवत् समन्वय कहा जाता है व द्वितीय प्रकार का समन्वय क्षैतिज समन्वय कहा जाता है।

प्रबन्धकीय नियन्त्रण एवं समन्वय स्थापित करने में निम्न साधन काम में लिए जाते हैं—

(1) कार्यकारी क्रियाएँ सम्पन्न करके;
(2) सुस्पष्ट नीतियों का निर्माण एव अनुसरण करके;
(3) समितियो द्वारा;
(4) बजट तैयार करके,
(5) प्रतिवेदन देना।

उपरोक्त विधियो के अतिरिक्त कुछ अनौपचारिक उपाय भी काम में लिए जा सकते हैं जैसे विभिन्न विभागाध्यक्षों में अनौपचारिक सम्पर्क होना, कर्मचारियों से समय-समय पर सम्पर्क करना, विभिन्न उपयोगी व महत्वपूर्ण सूचनाओं का आदान-प्रदान होना तथा कर्मचारियो को नीति-निर्माण पद्धतियो के विकास में सहयोग देने के लिए प्रेरित करना और उनका सहयोग लेना आदि। इन सब बातों से भी परस्पर समझ-बूझ बढती है, सहयोग का जन्म होता है व वान्छित मात्रा में समन्वय की प्राप्ति होती है।

14 पेटेन्ट, कापीराइट तथा ट्रेडमार्क, ब्राण्ड एकाधिकार और स्वस्थ प्रतियोगिता, प्रमापीकरण की समस्याएं

(The Institution of Patents, Copyright and Trade Mark, Brand Monopolies and Fair Competition, the Problems of Standardization)

आजकल के गला-काट प्रतिस्पर्द्धा के युग मे व्यवसायी वर्ग द्वारा अनेक प्रकार के हथकण्डो को अपनाया जाता है जिनकी सहायता से एक व्यवसायी दूसरे व्यवसायी को नीचा दिखाने की पूर्ण चेष्टा करता है। इसके लिए अच्छे और बुरे सभी तरह के साधन अपनाए जाते हैं। ऐसी विकट परिस्थिति मे सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस प्रकार की कुचेष्टाओ पर अकुश लगाए और ऐसे प्रभावी व व्यापक प्रयत्न करे जिससे व्यवसाय के स्वस्थ विकास और विस्तार को प्रोत्साहन मिले। सरकार द्वारा पेटेन्ट, कापीराइट और ट्रेडमार्क की सस्था को कानूनी मान्यता प्रदान करना इस दिशा मे एक कदम है। इसके अन्तर्गत सरकार व्यवसायी वर्ग के हितों की रक्षा करते हुए कानूनन किसी प्रक्रिया, नाम या ब्राण्ड का प्रयोग करने का एकाधिकार (Monopoly) प्रदान कर देती है। इसके लिए सरकार प्रथम रूप से कानून बनाती है। विश्व मे ऐसा सबसे पहला कानून अमेरिका में बना जब वहाँ सन् 1812 मे पहला पेटेन्ट कानून पास किया। अब तो करीब-करीब सभी राष्ट्रो ने ऐसे कानून बना रक्खे हैं जिनके द्वारा किसी विशेष उपज का निर्माण, ब्राण्ड का प्रयोग निषेध कर दिया है।

पेटेन्ट्स
(Patents)

तकनीकी ज्ञान को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से सरकार पेटेन्ट विनियोक्ता को स्वीकार करती है। रचनात्मक कला का विकास करने की दृष्टि से लेखकों और उपज्ञाताओ की कृतियो और आविष्कारो पर अनन्य अधिकार (Copyright) मजूर करती है और विक्रेताओ को किसी वस्तु से मिलती जुलती वस्तु बनाकर उपभोक्ताओं को धोखा देने की प्रवृत्ति को रोकने के प्रयोजन से ट्रेडमार्क प्रदान करती है। इन सब

अवस्थाओं में सरकार उसके सही मालिक या लेखक को एक प्रकार का एकाधिकार दे देती है जो कि बिना कानूनी सरक्षण के उसे प्राप्त नहीं हो सकता । इस प्रकार यह संस्था उपज्ञाताओं को नया प्रयास करने को प्रेरित करती है और इससे व्यवसायी वर्ग को अपने हितों की सुरक्षा की गारन्टी प्रदान करती है । प्रसिद्ध विद्वान रोजर्स (Rogers) ने उचित ही कहा है कि ये (पेटेन्ट और कापीराइट) कानून व्यवसायी को एकाधिकार बनाने में मदद करते हैं ।[1]

"पेटेन्ट एक प्रकार का एकमात्र अधिकार है जो सरकार द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए उसके आविष्कारक को प्रदान किया जाता है ।"[2] यह अधिकार उस आविष्कारक को यह एकाधिकार देता है कि वही अपनी उपज्ञा का निर्माण करने और उसे बेचने का एकमात्र अधिकारी है । पेटेन्ट किसी प्रक्रिया, डिजाइन, बनावट आदि का हो सकता है । इसके लिए पेटेन्ट आफिस को आवेदन-पत्र देना पड़ता है और कुछ औपचारिकताओं का पालन करने पर उसका रजिस्ट्रेशन हो जाता है । इस प्रकार यह आविष्कारक के हितों की रक्षा करता है, लेकिन कभी-कभी इसका दुरुपयोग भी देखा गया है । पेटेन्ट के माध्यम से उद्योग पर नियन्त्रण करने की चेष्टा की जाती है और नई खोज आविष्कार को हतोत्साहित किया जाता है । सारे पेटेन्ट एक ही व्यवसायी द्वारा खरीद लिए जाते हैं । प्रो० वाहन (Vaughn) के अनुसार, "पेटेन्ट के माध्यम से उद्योग पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करने वाली पूँजी उस विशिष्ट क्षेत्रों में सम्बन्ध रखने वाले सभी महत्वपूर्ण पेटेन्टों को जितना हो सके उतना खरीदना शुरू कर देती है।" इसका प्रभाव यह होता है कि विभिन्न पेटेन्टों के अलग-अलग और एक दूसरे के विरोधी स्वामी न होने के कारण जो प्रतियोगिता अवश्यम्भावी होती है, वह समाप्त हो जाती है । इस प्रकार एकाधिकार का सर्वत्र बोलबाला हो जाता है ।

कापीराइट
(Copyright)

किसी लेखक की रचनाओं का दुरुपयोग रोकने की दृष्टि से कापी राइट कानून बनाया गया है । यह एक सामान्य नियम है कि जो व्यक्ति अपनी कृति को तैयार करने में परिश्रम करता है गहन अध्ययन और मनन करता है और फिर एक नवीन रचना प्रस्तुत करता है, उसका उस पर एक मात्र अधिकार होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो समाज में चिन्तन, मनन और लेखन बिलकुल नहीं होगा । इन सब धारणाओं को दृष्टिगत रखते हुए सरकार ने ऐसा कानून बनाया है जिसके द्वारा एक लेखक की कृति का लाभ अन्य व्यक्ति नहीं उठा सकता और कोई ऐसा करता है तो वह दण्डनीय अपराध समझा जाता है । इस कानून के पीछे धारणा यह है कि जो व्यक्ति परिश्रम करे उसे ही उसका पुरस्कार मिलना चाहिए क्योंकि न्यायशास्त्र यह नहीं कहता कि किसी के परिश्रम का फल कोई दूसरा व्यक्ति भोगे।

1. *Rogers*. Goodwill, Trade Marks and unfair Trading.
2. "It is an exclusive right conferred on an inventor for a limited period by a Government" —*Vaughn.*

यह कानून लेखकों के अलावा चित्रकारों, नाट्यकारो फिल्म-निर्माताओं और संगीतकारों सभी के हितो की सुरक्षा करता है। इससे नव-प्रवर्तन (Innovation) को प्रोत्साहन मिलता है।

ट्रेडमार्क
(Trade Mark)

यद्यपि निर्माणात्मक उद्योगो मे एक ही प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती हैं और इसलिए श्रेणी बन्धन की आवश्यकता नहीं पडती, लेकिन इन उद्योगो मे प्रत्येक निर्माता अपनी वस्तु को दूसरे निर्माता की वस्तु से अलग करने हेतु ट्रेडमार्क नाम देता है। ट्रेडमार्क नाम देने का अभिप्राय है—उस वस्तु के ग्राहको मे एक निर्माता विशेष द्वारा बनाई गई वस्तु के प्रति रुचि पैदा करना। निर्माताओं द्वारा किया जाने वाला विस्तृत विज्ञापन भी इसी ट्रेडमार्क को लोकप्रिय करने का साधन है। इसका उद्देश्य भी ग्राहको के मन में उस निर्माता की वस्तु का मनमोहक चित्र अकित करना है। इसके फलस्वरूप ग्राहक अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए, एक प्रकार की बहुत वस्तुओ मे से, एक ही ट्रेडमार्क की वस्तुएँ छाटने लगते हैं। इससे प्रत्येक निर्माता की निर्मित वस्तु दूसरे निर्माता की निर्मित वस्तु से अलग अपना बाजार बना लेती है। अर्थशास्त्र मे इसे उत्पादन विभिन्नता (Product Differentiation) कहते हैं। इस दशा मे कभी-कभी ग्राहक एक विशिष्ट वस्तु के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि यद्यपि उसी प्रकार की अन्य वस्तु पहले से सस्ती मिलती है, लेकिन वे उसे नहीं खरीदते। ट्रेडमार्क नाम देने पर अपने ट्रेडमार्क की लोकप्रियता को बनाए व बढ़ाने के लिए, उसकी किस्म को एकसी रखने का दायित्व स्वय निर्माता के कन्धे पर रहता है।

जब किसी ब्राण्ड का पेटेण्ट और ट्रेडमार्क के रजिस्ट्रार से कानूनन पजीकरण करवा लिया जाता है तो उसे कानूनी सरक्षण मिल जाता है और फिर उस ट्रेडमार्क का प्रयोग अन्य कोई नही कर सकता। यह ब्राण्ड इस प्रकार Trade Mark का रूप लेता है। इस प्रकार सभी ट्रेडमार्क ब्राण्ड्स होते हैं, किन्तु सभी ब्राण्ड्स ट्रेडमार्क नही होते। इस प्रकार रजिस्ट्रेशन हो जाने पर उस ब्राण्ड के प्रयोग पर केवल एक ही व्यक्ति का एकाधिकार (Monopoly) हो जाता है।[1]

ट्रेडमार्क नाम देने के लिए सस्थाएँ प्राय. तीन आधारो का अनुकरण करती हैं—(क) चिह्न तथा सकेत (Symbols and Marks) द्वारा ट्रेडमार्क नाम देना जैसे डालडा घी, कैपस्टन सिगरेट, आदि, (ख) विशिष्ट नाम द्वारा ट्रेडमार्क नाम देना जैसे पासिंग शो सिगरेट, रेक्सोना साबुन आदि, तथा (ग) निर्माता के नाम को सक्षेप मे उत्पादन का ट्रेडमार्क नाम बनाना जैसे बाटा जूते, कोका-कोला, गोदरेज फर्नीचर आदि।

ट्रेड मार्क नाम सक्षिप्त तथा आकर्षक होना चाहिए जिससे ग्राहक उसे स्मरण रख सके।

1 "It is a distinctive mark placed by a manufacturer on his goods to distinguish his make from those of others" —*S.R. Davar.*

लाभ (*Advantages*)

ट्रेडमार्क नाम रखने के निम्नलिखित लाभ है—

(i) अपनी वस्तु का अलग ट्रेडमार्क रखकर और उसका विज्ञापन, प्रचार एव प्रसार करके, निर्माता उस वस्तु का अलग बाजार तैयार कर लेते हैं और इस प्रकार एकाधिकारी स्थिति बना लेते हैं।

(ii) जब कोई उपभोक्ता किसी ट्रेडमार्क की वस्तु का उपभोग करता है और उसे उससे पूर्ण सतोष प्राप्त हो जाता है तो वह उस वस्तु का स्थायी ग्राहक बन जाता है। यही नही, अपने सतोष की चर्चा करके वह दूसरे व्यक्तियों को भी उसे खरीदने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार ट्रेडमार्क नाम स्वय अपना विज्ञापन बन जाता है।

(iii) ट्रेडमार्क नाम से बिकने वाली वस्तुएँ प्रमाणित किस्म की होती हैं और इनका मूल्य निर्माता द्वारा स्थिर किया जाता है। सारे बाजार मे इनका एक ही मूल्य होता है जिससे बेइमान दूकानदार ग्राहको को धोखा नही दे सकता।

(iv) ट्रेडमार्क के लोकप्रिय हो जाने पर निर्माता ग्राहकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकता है और थोक विक्रेताओ व फुटकर व्यापारियों की दया पर आश्रित नही रहना पडता। वह स्वय अपनी बिक्री की दूकान खोल सकता है। मध्यस्थो को वितरण शृ खला से निकालने से निर्माता तथा उपभोक्ता दोनों को लाभ होता है। मध्यस्थो का लाभ इन दोनों मे बट जाता है।

(v) इससे उपभोक्ता को एक ही किस्म की प्रमाणित वस्तु मिल जाती हैं।

(vi) ट्रेड मार्क नाम देने से उस वस्तु का बाजार अधिक विस्तृत हो जाता है। उपभोक्ता लोकप्रिय ट्रेडमार्क के माल को बिना सोच-विचार या जाँच-पडताल के खरीद लेते हैं।

(vii) चूँकि ट्रेडमार्क नाम वस्तु के पैकेट के ऊपर लिखा या मुद्रित किया जाता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि वस्तु को पैकेटो मे रखा जाए। इससे पैकिंग जरूरी हो जाती है जो कि वस्तु की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(viii) इससे उत्पाद-अन्तर्लय के विस्तार मे भी बड़ी सुविधा मिलती है। यदि किसी व्यवसायी के पास ट्रेडमार्क वाली वस्तुएँ एक या अधिक हैं तो वह अपने उत्पाद-अन्तर्लय मे एक नई वस्तु उस कम्पनी की अपेक्षा जो कि बिना ट्रेडमार्क का माल बेचती है, अधिक आसानी से जोड सकती है। इस प्रकार नई वस्तु के प्रस्तुतीकरण मे बडी सहायता मिलती है और यह विज्ञापित किया जा सकता है कि नया उत्पादन 'अ' ट्रेडमार्क वाला उसी कम्पनी ने बनाया है जो कि ट्रेडमार्क 'ब' व अन्य उत्तम उत्पाद विगत 50 वर्षो मे बनाती आ रही है।

एक अच्छे ट्रेडमार्क का चुनाव (Selection of a good Trade Mark) विपणन-प्रबन्ध का सबसे कठिन कार्य है। नाम ऐसा होना चाहिए जिसका सीधा प्रभाव बिक्री पर पडे। बिना बिक्री-अपील के ट्रेड मार्क करना व्यर्थ माना जाता है। एक अच्छे ट्रेड मार्क मे अग्रलिखित गुण होने चाहिएँ—

(i) वह उत्पाद के लाभों को प्रकट करने वाला हो।
(ii) वह लोगों को उत्पाद के लाभों के बारे में धोखा न दे।
(iii) उसका उच्चारण आसानी से किया जा सके।
(iv) उसका आसानी से विज्ञापन किया जा सके।
(v) उसे रजिस्टर्ड कराने में कोई दिक्कत न आए।

ब्राण्ड एकाधिकार
(Brand Monopolies)

कुछ ब्राण्ड जनता में इतने लोकप्रिय हो जाते हैं कि उनका नाम आम जनता के मुँह पर आ जाता है जिससे उस वस्तु का बाजार में एकाधिकार हो जाता है। घर-घर में उस ब्राण्ड की उपयोगिता के बारे में जानकारी हो जाती है और सभी उसे ही खरीदना पसन्द करते हैं। इस प्रकार बाजार में उसी ब्राण्ड की वस्तु की बिक्री होती है, अन्य ब्राण्ड की वस्तुएँ दुकान पर पड़ी रह जाती हैं। किसी ब्राण्ड की ऐसी लोकप्रियता के दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो उस वस्तु की उपयोगिता और दूसरा उसका धुआँधार विज्ञापन। जब किसी वस्तु में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं और जो लोग उस वस्तु का उपयोग करते हैं वे उसके उपयोग से पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाते हैं तो वे भविष्य में उसी विशेष ब्राण्ड की वस्तु खरीदना पसन्द करते हैं। उपभोक्ता दूसरे ब्राण्ड की वस्तु जो कम कीमत पर भी मिलती हो तो उसे नहीं खरीद कर पूर्व में प्रयोग की गई वस्तु ही खरीदते हैं। इतना ही नहीं, वे प्रायः उसके गुणों का उल्लेख अपने मित्रों, रिश्तेदारों से भी करते हैं, इस प्रकार वह ब्राण्ड बहुत लोकप्रिय हो जाता है। उदाहरण के लिए, जुकाम लग जाने पर लोग विक्स (Vicks) लगाने की राय देते हैं, जल जाने पर बरनोल (Burnol) लगाने की राय दी जाती है और सिर-दुखने पर एनासिन या ऐस्प्रो की टिकिया के लिए कहा जाता है।

किसी वस्तु के ब्राण्ड का एकाधिकार वृहत विज्ञापन के द्वारा भी सम्भव है। कभी-कभी निर्माता अपनी वस्तु की बिक्री बढाने के लिए अपने ब्राण्ड के गुणों का प्रचार विभिन्न प्रकार के विज्ञापन के माध्यम से करता है। विज्ञापन इतने विशाल और व्यापक पैमाने पर किया जाता है कि आम जनता को उस ब्राण्ड का नाम याद हो जाता है और वह छोटे-बड़े सभी की जबान पर आ जाता है तो सारे बाजार में उसी ब्राण्ड का बोलबाला हो जाता है। उदाहरण के लिए वेजीटेबल घी बनाने वाली कम्पनी डालडा (Dalda) ने प्रारम्भ में इतना व्यापक और विस्तृत विज्ञापन किया था कि आज घर-घर में इसका प्रचार हो गया है और यह ब्राण्ड आज बड़े-बूढ़े सभी की जबान पर है। आज बाजार में डालडा ब्राण्ड का इतना बोलबाला है कि ऊँचे मूल्य पर भी लोग इसे ही खरीदने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जब उपभोक्ता किसी विशेष ब्राण्ड की वस्तु ही सदैव खरीदते हैं तो बाजार में उस वस्तु का एकाधिकार हो जाता है, अन्य वस्तुएँ भी बाजार में होती हैं, लेकिन वे इतनी लोकप्रिय नहीं हो पातीं।

प्रमापीकरण की समस्या
(The Problem of Standardisation)

निर्माण के दृष्टिकोण से प्रमापीकरण का आशय किसी उत्पाद-श्रेणी को निश्चित प्रकारों, आकारों और विशेषताओं में सीमित करने से है। ई. सी पेक (E C Peck) के शब्दों में, "प्रमापीकरण का आशय प्रमाप या पैमाने स्थापित करने से है, जिनके द्वारा परिमाण, किस्म, मूल्य निष्पत्ति सेवा को मापा जाता है।" बीटल, अम्बाटर, स्मिथ एवं स्टैकमैन के अनुसार, 'एक प्रमाप आवश्यक रूप में गुण, निष्पत्ति एवं माप की कसौटी है जो प्रथा, सहमति या अधिकार द्वारा स्थापित की जाती है तथा समयावधि के लिए तुलना के आधार के रूप में प्रयोग होती है। प्रमापों का निर्धारण एवं इन प्रमापों के अनुसरण हेतु औद्योगिक घटकों का समन्वय करना तथा प्रभावशील अवधि के भीतर उन्हें बनाए रखना औद्योगिक प्रमापीकरण कहलाता है।"

टुस्ले, क्लार्क तथा क्लार्क (Tousle, Clark and Clark) के अनुसार, "प्रमापीकरण एक सामान्य शब्द है जिसमें निर्मित वस्तुओं के मानदण्ड स्थापित किए जाते हैं। उन वस्तुओं का निरीक्षण किया जाता है जिससे यह देखा जा सके कि वे किन मानदण्डों के अनुरूप है, और जहाँ आवश्यकता हो, इन वस्तुओं को निर्धारित मानदण्डों के अनुकूल डेरियों में छाँटा जाता है।" दूसरे शब्दों में, प्रमापीकरण की प्रक्रिया में सर्वप्रथम वस्तुओं के आन्तरिक गुणों और उपयोगी लक्षणों को ध्यान में रखते हुए किस्म के स्थायी मानदण्ड स्थापित किए जाते हैं, और फिर यह देखा जाता है कि निर्मित वस्तुएँ इस प्रमाप के अनुसार ही बने। वस्तु के गुणों के मानदण्ड प्राय उनके आकार, सरचना, रूप, रंग, उपयोगिता, आदि के आधार पर निश्चित किए जाते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य वस्तुओं की किस्म में एक-रूपता लाना है।

सुगमता और प्रमापीकरण दोनों का उद्देश्य प्रचारों आदि को घटाना है ताकि मितव्ययता सम्भव हो सके। जबकि सुगमता का सम्बन्ध उत्पाद की श्रेणियों और निर्माण के ढँगों से है, तब प्रमापीकरण मुख्यतः एक विशेष उत्पाद या क्रिया से सम्बन्धित होता है। सुगमता का स्वभाव चयनात्मक और व्यापारिक है, किन्तु प्रमापीकरण का स्वभाव तकनीकी एवं सृजनात्मक, प्रमापीकरण व्यवहार में सर्वोत्तम डिजाइन, आकार, गुण, विधि की स्थापना करता है। जब कोई बल्ब निर्माता अपने पाँच प्रकार के बल्बों के बजाय केवल दो प्रकार के बल्ब बना लेता है तो यह सुगमता है, किन्तु जब वह प्रत्येक प्रकार के बल्ब के लिए एक विशेष प्रकार की फिनिश नियत कर दे तो कहेंगे कि उसने प्रमापीकरण किया।

उद्योगों में प्रमापीकरण निम्न एक या कई उद्देश्यों में किया जाता है—(i) एक दी हुई उत्पाद श्रेणी को निश्चित प्रकारों और विशेषताओं से सीमित करना, (ii) निर्मित पार्ट्स और उत्पादों की परस्पर परिवर्तनीयता स्थापित करना (iii) सामग्री सम्बन्धी गुणों के प्रमाप स्थापित करना तथा (iv) मनुष्य व मशीनों के कार्य-चालन सम्बन्धी प्रमाप स्थापित करना।

किस्म के लिए निश्चित किए जाने वाले प्रमापों में निम्न विशेषताएँ होनी चाहिएँ—(1) ये प्रमाप युक्तिपूर्ण (Reasonable) हों। (2) प्रमाप करने योग्य (Measurable) होने चाहिएँ। (3) यथार्थ तथा प्राप्य (Available) हों। (4) प्रमाप समझने योग्य (Understandable) होने चाहिए।

उत्पादन के प्रमापीकरण से कई लाभ होते हैं। इसमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(1) वस्तुओं के प्रमापित होने पर खरीददारों के लिए इनकी किस्म को बार-बार जाँचने-पहचानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(2) किस्म, रूप आकार आदि के विषय में भरोसा होने के कारण प्रमापित वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है और इस प्रकार उनकी बिक्री अधिक होती है।

(3) क्योंकि अप्रमापित वस्तुओं की सरसरी जाँच उनकी किस्म का सही अनुमान नहीं दे सकती, ग्राहकों को उनकी जाँच के बाद भी यह विश्वास नहीं होता कि वे अपने अपेक्षित उपयोग के लिए उपयुक्त सिद्ध होंगी या नहीं।

(4) अप्रमापित वस्तुओं का क्रय तथा विक्रय दोनों ही, अधिक महँगे और समय बर्बाद करने वाले सिद्ध होते हैं।

(5) अप्रमापित वस्तुओं को केवल उनके संक्षिप्त वर्णन (Description) अथवा नमूने के द्वारा बेचा जा सकता है, उनकी पूरी जाँच की जरूरत नहीं पड़ती।

(6) प्रमापित वस्तुओं का विज्ञापन आसान तथा सस्ता रहता है। इसके अभाव में विक्रेता को अलग-अलग किस्म की वस्तुओं के लिए अलग-अलग तथा विस्तृत वर्णन युक्त विज्ञापन देना पड़ेगा जो महँगा सिद्ध होगा।

यदि प्रबन्धक चाहते हैं कि वैज्ञानिक प्रबन्ध सफल बने, तो उन्हें समस्त इक्विपमेंट और सेवाओं का, जिन्हें कर्मचारीगण अपने कर्त्तव्यों को निभाते हुए इस्तेमाल में लाते हैं सुधार एवं प्रमापीकरण करना चाहिए। उपकरणों, इक्विपमेंट, कार्यदशाओं, सामग्रियों मात्रा आदि सभी का प्रमापीकरण वांछनीय है। जब तक औजार आदि उत्तम और उपयुक्त नहीं होंगे कोई भी श्रमिक कुशलता से कार्य नहीं कर सकेगा। जब तक इनका प्रमापीकरण नहीं होगा उत्पादन में समरूपता भी नहीं आ सकेगी। यह भी आवश्यक है कि जब कोई प्रमाप नियत कर दिए जाएँ तो उनका पालन भी हो। गति एवं समय अध्ययन तब ही उपयोगी हो सकेंगे जबकि उन्हें चालन के प्रमापीकरण का आधार बनाया जावे। हमारे देश में भारतीय प्रमाप संस्थान (Indian Standard Institute) इन सब समस्याओं के प्रति जागरूक है और इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

15 उपभोक्ता की रुचि, हित एवं परिवेदनाएँ

(Consumers' Taste, Interests and Grievances)

उपभोक्ता की रुचि एवं हित
(Consumer Taste & Interests)

आधुनिक व्यावसायिक जगत मे उपभोक्ता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे सम्पूर्ण उत्पादन का ध्येय उपभोक्ता ही होता है। किसी वस्तु का निर्माण इसलिए किया जाता है क्योंकि उपभोक्ता ऐसी वस्तु चाहता है। उत्पादन का क्या रूप है, किस वस्तु का उत्पादन किया जाए ? इन सब प्रश्नो का हल उपभोक्ता की आवश्यकताओ को दृष्टिगत रखते हुए ही दिया जा सकता है। आज किसी भी व्यवसाय की अन्तिम सफलता इस बात से आँकी जाती है कि वह अपने 'उपभोक्ता' वर्ग को कहाँ तक सन्तुष्ट करने मे सफल हुआ है। इस प्रकार उपभोक्ता व्यवसायी का भाग्य-विधाता है।

अतएव एक सफल व अच्छा व्यवसायी वह है जो अपने ग्राहको की रुचि और हितो का सदैव ध्यान रखे। उपभोक्ताओ की जरूरतो, मांगो और सुविधाओ को ध्यान मे रखते हुए नयी-नयी वस्तुओं का निर्माण कर उन्हे उचित मूल्य पर ग्राहको को उपलब्ध कराए। प्रो० डावर ने ठीक ही कहा है, "आजकल के प्रतिस्पर्द्धा के युग मे उपभोक्ता की आवश्यकता को सही वस्तु के द्वारा, सही मूल्य पर और सही स्थान पर पूरा करने तक व्यवसायी का प्रथम कर्त्तव्य है।" उपभोक्ता की रुचि का सही-सही पता लगाने के लिए विपणन गवेषणा (Marketing Research) प्रक्रिया को अपनाया जाता है। इस प्रक्रिया के तीन प्रमुख चरण हैं—

(i) निर्मित वस्तु या सेवा की गवेषणा (Research on Products and Services)—इसका अर्थ है—उपभोक्ता की जरूरतों, मांगो और सुविधाओ को ध्यान मे रखते हुए नई-नई वस्तुओ का विकास करना या बाजार मे प्राप्त जानकारी को ध्यान मे रखते हुए वर्तमान वस्तुओं की पूर्ति ग्राहकों की रुचि के अनुसार करना।

(ii) बाजार की गवेषणा (Research on Market)—इसके अन्तर्गत जिस क्षेत्र मे उपभोक्ता फैले होते हैं, उस बाजार की प्रकृति, आकार, भिन्न-भिन्न बाजारो

की लाभ-प्रदता, बाजार की प्रकृति में परिवर्तन, बाजार को प्रभावित करने वाले आर्थिक तत्वों आदि का अध्ययन और विश्लेषण करना।

(iii) **विक्रय प्रणालियों और नीतियों की गवेषणा (Research on Sales Methods and Policies)**—इस गवेषणा का अभिप्राय ग्राहकों से चार्ज किया जाने वाला मूल्य, कटौती की दर, वितरण लागत, विज्ञापन की सार्थकता आदि समस्याओं का परीक्षण व अध्ययन करना है।

बाजार गवेषणा से प्राप्त जानकारी संस्था के प्रबन्धकों को कई प्रकार से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। सर्वप्रथम, इसके फलस्वरूप उन्हें ग्राहकों की स्थिति, रुचि और प्रवृत्ति का पता चल जाता है और वे अपने विज्ञापन व प्रसार कार्यक्रम को इस जानकारी के अनुसार चला सकते हैं। द्वितीय यह जानकारी अगले वर्षों में अनुमानित बिक्री का आभास प्रदान करती है। फलस्वरूप संस्था अपनी उत्पादन व अन्य योजनाओं को उसके अनुसार चला सकती है। तृतीय, इस जानकारी को प्राप्त करके संस्था अपनी बिक्री की दर को बढ़ा सकती है और फलस्वरूप उत्पादन और बिक्री के खर्चों को कम कर सकती है तथा उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग कर सकती है। अन्त में, यह जानकारी संस्था को अपने प्रतियोगियों का सशक्त सामना करने में मदद देती है।

बाजार गवेषणा में जिन बातों की विशेष जानकारी की जाती है वे निम्न-लिखित हैं—

(i) **ग्राहकों की संख्या एवं सरचना**—इसके लिए सबसे पहले कुल जनसंख्या में से अपनी वस्तु के ग्राहकों को ढूँढा जाता है और फिर उन्हें स्त्री-पुरुष, ग्रामीण-शहरी, शिक्षित-अशिक्षित, धनिक-निर्धन, युवा-वृद्ध आदि के अनुसार वर्गीकृत कर लिया जाता है।

(ii) **ग्राहकों की आय का वितरण**—ग्राहकों के वर्ग की पहचान हो जाने पर उनकी आय का अनुमान लगाया जाता है। इसके लिए राष्ट्रीय आय के वर्तमान और अनुमानित आँकड़ों का विश्लेषण करके यह देखा जाता है कि सम्बन्धित ग्राहकों की आय बढ़ेगी या घटेगी और आय में इस घट-बढ़ का वस्तु की माँग पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

(iii) **तकनीकी परिवर्तन**—सम्बन्धित वस्तु की माँग का सही पूर्वानुमान लगाने के लिए यह आवश्यक है कि उस माँग को प्रभावित करने वाले सम्भावित तकनीकी परिवर्तनों का सही-सही पूर्वानुमान लगाया जाए और उसके परिणामों को जाना जाए। उदाहरणार्थ उपभोक्ता-वर्ग में टेलीविजन के प्रचार के साथ-साथ रेडियो की माँग घट जाती है।

(iv) **ग्राहकों की रुचि, उनकी पसन्द तथा उनके स्तर में परिवर्तन**—वस्तुओं की माँग पर ग्राहकों की बदलती हुई भावनाओं, रुचियों तथा पसन्द का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यदि फैशन में परिवर्तन हो जाए तो पुरानी वस्तुओं की माँग घट जाती है और नई वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। इसी प्रकार स्वदेशी भावना के जोर पकड़ने पर विदेशी वस्तुओं की माँग घट जाती है।

होनी आवश्यक नही है। साथ ही वे विपणन गवेषणा (Market Research) की प्रणालियो मे प्रशिक्षित भी नही होते है।

(ii) व्यापारी (Dealers)–विपणन गवेषणा के लिए प्राथमिक जानकारी प्राप्त करने का दूसरा स्रोत उस संस्था की वस्तु के व्यापारी होते हैं। ये व्यापारी उक्त वस्तु की बिक्री और उसके सम्बन्ध मे उपभोक्ताओं की प्रतिक्रिया के बारे मे काफी उपयोगी जानकारी दे सकते हैं। वे संस्था की विपणन नीतियो के बारे मे अपनी और उपभोक्ताओं की राय बतला सकते हैं। लेकिन इस स्रोत से प्राप्त जानकारी पर निर्भर नही रहा जा सकता क्योंकि न तो इन व्यापारियों के पास इस प्रकार की जानकारी को इकट्ठा करने की विशेष व्यवस्था होती है और न ही वे किसी एक संस्था के लिए पूर्ण रुचि से इस जानकारी को इकट्ठा करते हैं।

(iii) उपभोक्ता (Consumers)—एक वस्तु के गुण, उपयोगिता और बिक्री योग्यता की सबसे बड़ी कसौटी एक उपभोक्ताओं की राय है। अत: इस सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी, उनका सर्वेक्षण करके ही प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए वर्तमान तथा भावी दोनो प्रकार के उपभोक्ताओं के विचारो को जानना जरूरी है। यह जानकारी, इन उपभोक्ताओं मे से कुछ प्रतिनिधिक उपभोक्ताओं को छाँटकर और उनकी क्रय-आदत, रुचि, प्रवृत्ति तथा संस्था द्वारा बेची जाने वाली वस्तु की किस्म, कीमत पैकेजिंग सुलभता आदि के बारे मे राय को मालूम करके प्राप्त की जाती है। स्पष्ट है कि इसके लिए ग्राहकों का प्रत्यक्ष सर्वेक्षण (Survey) करना पड़ेगा।

प्राथमिक स्रोतो मे जानकारी प्राप्त करने के कई लाभ हैं। जैसे—(i) यह अधिक विश्वसनीय होती है क्योंकि इसे संस्था स्वयं एकत्रित करती है, (ii) यह अधिक उपयोगी होती है क्योंकि यह विशेष उद्देश्य को ध्यान मे रख कर इकट्ठी की जाती है, तथा (iii) यह अधिक विस्तृत होती है क्योंकि इसमे भिन्न-भिन्न प्रकार की नई जानकारी भी प्राप्त की जा सकती है। इन स्रोतो का उपयोग करने मे सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि यह काफी महँगी पड़ती है।

(ख) गौण स्रोत (Secondary Sources)—विपणन गवेषणा के लिए जानकारी प्राप्त करने के गौण स्रोत प्रमुखतया चार होते हैं—व्यापारिक समाचार पत्र, प्रकाशित सर्वेक्षण, व्यापार मंडल तथा सरकारी व अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन।

उपभोक्ताओं की परिवेदना
(Consumers Grievances)

कभी-कभी उपभोक्ताओं की किसी वस्तु या उसके निर्माता के प्रति तीव्र आक्रोश पैदा हो जाता है, इसके कई कारण हो सकते हैं। एक कुशल व्यवसायी को तुरन्त इस ओर ध्यान देकर उपभोक्ताओं की परिवेदना दूर करनी चाहिए, अन्यथा बाजार मे उसकी वस्तु नही बिक पाएगी। अगर उन्हें शीघ्र दूर नहीं किया जाता है तो इससे उत्पादक और उपभोक्ता सम्बन्ध को भारी क्षति पहुँचती है और दोनो के बीच एक लम्बी चौड़ी खाई बन जाती है। व्यापक रूप से परिवेदना एक प्रकार

(v) झूठे ब्राण्ड का प्रयोग—कुछ व्यवसायी सुप्रसिद्ध ब्राण्ड से मिलता-जुलता नाम रख उसकी ख्याति से अपना लाभ उठाने का प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ Sunlight साबुन की कई अन्य निर्माताओं ने कई प्रकार से नकल की जैसे Sonlight, Surlight आदि-आदि। इस प्रकार झूठे ब्राण्ड का प्रयोग करने से वस्तु की बिक्री तो बढ़ जाती है, लेकिन जब उस वस्तु की उसे कोई उपयोगिता नहीं मिलती तो उसकी खीझ का कारण उत्पादक होता है।

(vi) अन्य (Others)—इसके अलावा कुछ व्यवसायी विज्ञापन की सहायता से जनता को भ्रम में डालते हैं और उनकी अज्ञानता का लाभ उठाते हैं। कभी-कभी कुछ चतुर व्यवसायी अपने विज्ञापन में किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम या चित्र या प्रमाण पत्र का प्रयोग करते हैं जबकि उस व्यक्ति ने सम्बन्धित वस्तु का कभी प्रयोग ही नहीं किया। कभी-कभी कुछ व्यवसायी नाप-तौल में भी उपभोक्ता वर्ग को छलने की कोशिश करते हैं।

एक व्यवसायी का यह सामाजिक और नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह अपने ग्राहकों की परिवेदना का तुरन्त समाधान करे, अन्यथा धीरे-धीरे उसका व्यवसाय चौपट होता जाएगा और जिस प्रकार काले छाते को देखकर साँड दूर भाग जाता है उसी प्रकार ग्राहक भी उससे दूर होते जाएँगे।

---

16 व्यावसायिक-गृहों के जन-सम्पर्क विभाग का गठन

(The Organisation of Public Relations Department of Business Houses)

आधुनिक युग बड़े पैमाने के उत्पादन का युग है, जहाँ पग-पग पर कड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है। अतः एक सफल व्यवसायी वह है जो न केवल अपनी वस्तुओं को अधिकाधिक ग्राहकों तक पहुँचाए बल्कि बाजार में भी जिसकी अच्छी प्रतिष्ठा और धाक हो। जनता जनार्दन के मानस में उस व्यवसाय की ऐसी इमेज होनी चाहिए कि वे उसी की निर्मित वस्तुओं में रुचि लें और महसूस करें कि उन्हें अच्छी, उपयोगी और श्रेष्ठ वस्तु उचित मूल्य पर मिल रही है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आजकल प्राय बड़े-बड़े व्यवसायी अपने यहाँ एक पृथक् विभाग की स्थापना करते हैं जो जन-सम्पर्क विभाग के नाम से जाना जाता है। यह एक ऐसा विभाग है जो किसी व्यवसाय से सम्बन्धित सभी पक्षों से सम्पर्क बनाए रखता है और उनको सही सूचना प्रदान करता है। प्रोफेसर एम. सी शुक्ला के अनुसार जन-सम्पर्क प्रबन्ध का वह कार्य है जो जनता की धारणाओं का मूल्यांकन करते हुए व्यवसाय की नीतियों और कार्य-प्रणालियों की जानकारी देता है और जन-भावनाओं को अपने अनुकूल बनाता है।[1] इस प्रकार प्रो. शुक्ला ने व्यवसाय की रीति-नीति के बारे में जनमत को व्यवसाय के प्रति जाग्रत करने पर बल दिया है।

प्रसिद्ध प्रबन्ध पण्डित प्रो. डावर (S. R. Davar) के शब्दों में, जन-सम्पर्क किसी व्यवसाय की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यवसाय अपने कार्यों से जनता की शुभ-कामनाएँ अर्जित करने की कोशिश करता है जिससे उसका व्यावसायिक सम्पर्क रहता है।[2] इनके अनुसार जन-सम्पर्क का बड़ा व्यापक कार्य-क्षेत्र है, जिसमें टेलीफोन पर बड़ी नम्रता के साथ बात करना, संयत भाषा में पत्र-व्यवहार करना, ग्राहकों को सदैव प्रसन्न और सन्तुष्ट रखना आदि भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। जन-सम्पर्क इस प्रकार वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत व्यवसाय उन सभी पक्षों से

1. "As the management function which evaluates public attitudes, identifies the policies and procedure or an individual or an organisation with the public interest and executes a programme of action to earn public understanding and acceptance." —*Shukla, M. C.*
2. "Public relations is a process by which a business tries to secure the goodwill of the public by acting in such a way as to please all those with whom the business comes into contact." —*Davar, S. R.*

मधुर सम्बन्ध बनाने का यत्न करता है जो उसके सम्पर्क मे आते हैं, इसमें ग्राहक, व्यापारी, श्रमिक और ग्राम-जनता सभी सम्मिलित हैं।

जन-सम्पर्क आजकल के युग की मांग है। कोई व्यवसायी कितनी ही श्रेष्ठ वस्तु का निर्माण क्यों नहीं करे, जब तक जनता को विश्वास नही होगा कि उसे अच्छी वस्तु दी जा रही है और उचित मूल्य वसूल किया जा रहा है, तब तक उस व्यवसाय के प्रति अच्छी धारणा नही बन पाएगी। जनता के मन मे उस व्यवसाय के प्रति स्नेह होना चाहिए एक ऐसी छाप होनी चाहिए जो उन्हे आत्म-सन्तुष्टि प्रदान करती हो। उदाहरणार्थ भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति टाटा को ही लीजिए। आज जनता के मन मे टाटा समूह के प्रति इतना अटूट विश्वास है कि टाटा का उत्पादन खरीदने में जनता पूरी सन्तुष्टी महसूस करती है, वह सोचती है कि उसे उचित मूल्य पर विश्वास करने योग्य अच्छी वस्तु दी जा रही है।

अब यह धारणा व्यावसायिक जगत में बलवती होती जा रही है कि जिस प्रकार व्यवसाय की सफलता के लिए प्रशिक्षित श्रमिक, श्रेष्ठ मशीनरी का होना अनिवार्य है उसी प्रकार उस व्यवसाय के प्रति अच्छी जन-धारणा भी जरूरी है ताकि जनता मे किसी प्रकार का असन्तोष, शिकवा-शिकायत न रहे। व्यवसाय की सफलता के लिए जन-सहयोग का होना अनिवार्य है।

जन-सम्पर्क विभाग के कार्य (*Functions of Public Relations*)

1 उपक्रम के उच्च अधिकारियो को व्यवसाय के लक्ष्य निर्धारित करने मे मदद कराना।
2. जन-धारणाओ का पता लगाकर व्यवसाय से सम्बन्धित पक्षो को परिचित कराना।
3. जन-कल्याण कार्यों से व्यवसाय को अवगत कराना।
4. विभिन्न स्रोतो द्वारा व्यवसाय की नीति और कार्यों का प्रचार एव प्रसार करना।

कभी-कभी आम जनता के मन मे किसी विशेष व्यवसाय के प्रति कई प्रकार की मिथ्या-धारणाएँ होती हैं, जो स्वार्थी तत्त्वो द्वारा फैला दी जाती हैं और जिसका मूल उद्देश्य व्यवसाय के स्वरूप को धूमिल करना होता है, जन-सम्पर्क विभाग का ऐसी परिस्थिति मे मूल कार्य इन गलत भ्रांतियो का निवारण कर सही चित्र प्रस्तुत करने का होना है। कभी-कभी अपना उल्लू सीधा करने के लिए राजनीतिक नेता और मजदूर नेता जनता को भुलावे मे डालकर उन्हें व्यवसाय के प्रति भडकाते हैं और अनाप-शनाप तथ्यहीन बातें कहकर उकसाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे यदि व्यवसाय की ओर से भी 'चुप्पी' साध ली जाती है तो कभी-कभी बडा अनर्थ हो जाता है। ऐसे विकट समय मे जन-सम्पर्क विभाग बडी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गत वर्ष *जीवन बीमा निगम, रेलवे की देश व्यापी हडताल आदि के सम्बन्ध मे इन* उपक्रमों के जन सम्पर्क विभाग द्वारा समय-समय पर दी जाने वाली जानकारी ने हडताली-कर्मचारियो का सही चित्र जनता के सामने रखा, फलस्वरूप कर्मचारी जनता की सहानुभूति प्राप्त करने से वंचित रह गए।

जन-सम्पर्क विभाग की सफलता की कसौटी 'जनहित' पर अवलम्बित है। व्यवसाय को सदैव ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिसमे 'जन-हित' का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता हो। एक व्यवसाय विभिन्न वर्गों से प्रतिदिन सम्पर्क मे आता है जैसे ग्राहक, कर्मचारी, अंशधारी और आम जनता आदि। इन वर्गों मे प्रत्येक के अपने अपने निहित स्वार्थ होते हैं और प्रबन्ध का यह कार्य होता है कि इन विभिन्न वर्गों से इस प्रकार व्यवहार करे कि किसी को भी किसी प्रकार का असन्तोष न रहे और कम्पनी के हितो को भी किसी प्रकार की आँच नही आए।

जन-सम्पर्क विभाग का संगठन (*Organisation of Public Relations*)

बड़े-बड़े व्यवसायों मे इसके लिए प्राय: एक पृथक् विभाग स्थापित कर दिया जाता है। इस विभाग के संचालन की जिम्मेदारी ऐसे व्यक्ति के कंधों पर डाली जाती है जिसको कम्पनी की नीतियो के बारे मे पूरी जानकारी हो, जिसमे कल्पना-शक्ति और व्यवहारपटुता (Imagination and Tact) हो और जिसका मानवोचित सहयोगपूर्ण व्यवहार हो। यह विभाग जिस वर्ग से सम्पर्क रखता है वह Public के नाम से जाना जाता है जिसे हम सुविधा की दृष्टि से पाँच भागो मे बाँट सकते हैं—

1 सामुदायिक सम्बन्ध (Community Relations)—जिस क्षेत्र मे व्यवसाय स्थापित हो वहाँ के निवासियों के मन मे उस व्यवसाय के प्रति आदर होना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी है कि वहाँ के निवासियो के साथ केवल औपचारिक मधुर व्यवहार ही न रहे बल्कि उनके कल्याण और विकास के लिए भी कुछ कारगर कदम उठाना चाहिए। वहाँ के निवासियो को नियुक्तियों मे प्राथमिकता देना, रियायती दर पर माल देना, जन-कल्याण के कार्य जैसे स्कूल, डिस्पेन्सरी आदि खुलवाना, वहाँ के बच्चो के आमोद-प्रमोद के लिए पार्क बनवाना या छात्र-वृत्ति देना आदि आदि सम्मिलित हैं। रोजगार के मामले मे भी वहाँ के निवासियो को प्राथमिकता अवश्य देनी चाहिए। 'Sons of the soil' की धारणा आजकल जोर पकड़ती जा रही है और इसका हमे सदैव ध्यान रखना पड़ेगा।

2 उपभोक्ता सम्बन्ध (Consumer Relations)—यह जन-सम्पर्क का सबसे महत्वपूर्ण भाग है क्योंकि इसी वर्ग द्वारा व्यवसाय की प्रतिष्ठा और ख्याति का निर्माण होता है। जन-सम्पर्क की सफलता मुख्यतया इस बात पर निर्भर करती है कि यह विभाग उपभोक्ता को कितने सन्तोषजनक तरीके से प्रेरित कर उन्हें निष्ठावान तथा स्थायी ग्राहक बना सकता है। ग्राहकों को सन्तुष्ट करने मे और व्यवसाय की नीति का सही चित्रण और उसका उद्देश्य उपभोक्ताओं को अवश्य ज्ञात होना चाहिए ताकि उनके मन मे किसी प्रकार की भ्रान्तियाँ नही रहें। इसलिए प्रत्येक बड़े व्यावसायिक गृह को उपभोक्ता से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखना चाहिए। उपभोक्ताओं को कम्पनी का इतिहास, इसका विकास कैसे हुआ? इसकी क्या प्रतिष्ठा है, देश के आर्थिक विकास मे इसका क्या योगदान है, इसके प्रबन्धक ग्राहकों के प्रति कैसा भाव रखते है आदि बातों का सही चित्रण प्रस्तुत करना चाहिए। कभी-कभी इसके लिए सुन्दर चित्रो मे प्रकाशित पैम्फलेट भी उपभोक्ताओं मे वितरित किए जाते हैं।

3. अंशधारी सम्बन्ध (Share-holders Relations)—आजकल जितने भी बड़े-बड़े व्यवसाय हैं, उनका सचालन 'कम्पनी' द्वारा होता है। अंशधारी कम्पनी के वास्तविक मालिक होते है, लेकिन वे प्रबन्ध मे किसी प्रकार का हिस्सा नहीं ले पाते। अत. श्रेष्ठ जन-सम्पर्क विभाग वह है जो इन बिखरे हुए सहस्रों मालिकों को सन्तुष्ट रखे। कम्पनी की वार्षिक प्रगति की सही रिपोर्ट और उनके द्वारा मांगी जाने वाली जानकारी तुरन्त देनी चाहिए। वास्तव मे अधिकांश अंशधारी ऐसे होते हैं जिन्होने न तो कम्पनी की फैक्ट्री को कभी देखा है और न उस फैक्ट्री मे बनने वाली विभिन्न वस्तुओं के बारे मे उन्हे पूरा ज्ञान है। उनकी मुख्य रुचि तो लाभांश मे रहती है जो उन्हे सालाना दिया जाता है। इसलिए जन-सम्पर्क का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि अंशधारी कम्पनी द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपभोग करें और उन्हे अपने मित्रो को वापरने के लिए प्रेरित करें। अंशधारियों से अच्छे सम्बन्ध भविष्य मे अतिरिक्त पूंजी इकट्ठी करने मे भी मदद करते हैं और समय पर इनसे काफी बड़ी धन-राशि एकत्र की जा सकती है।

4. विक्रेता-सम्बन्ध (Dealer Relations)—अच्छे विक्रेता सम्बन्ध विशेष रूप से बड़े व्यवसायो मे बहुत आवश्यक हैं। जिन उद्योगों मे बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है उन्हे अपना थोक विक्रेताओं, फुटकर विक्रेताओं और दूकानदारों से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखना होता है। यह सम्पर्क जितना मधुर होगा उतना ही उद्योग के लिए उपयोगी होगा क्योंकि ये विक्रेता उपभोक्ता से सीधे सम्पर्क मे रहते हैं। वे कभी-कभी उपभोक्ता को यह भी सुझाते हैं कि उन्हे कौनसी वस्तु खरीदनी चाहिए। वे उपभोक्ताओं की रुचि का अध्ययन भी करते हैं और बाजार की पसन्द के अनुसार माल तैयार करवाने मे उत्पादक को महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शन प्रदान कर सकते हैं।

5 कर्मचारी सम्बन्ध (Employee Relations)—आजकल के औद्योगिक कलह के इस युग मे अच्छे कर्मचारी सम्बन्धो का होना बहुत जरूरी है। विश्वासपात्र, समर्पित कर्मचारियों को आकर्षित करने के लिए मधुर और स्थायी कर्मचारी सम्बन्ध का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। कर्मचारियों को कम्पनी की सही नीति समझाना, उनकी शिकायतें सम्बन्धित अधिकारी तक पहुंचाना, अनेक भ्रान्तियो का निवारण करना यह सब कर्मचारी सम्बन्ध का काम है जिसे जन-सम्पर्क विभाग को पूरा करना पड़ता है।

वर्तमान समय मे औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है। कारखाना प्रणाली ने स्वामित्व तथा प्रबन्ध का विच्छेद ला दिया है, जिसके कारण सस्था के कर्मचारी अपने मालिकों से दूर हो गए हैं और पेशेवर नेताओं ने उनके बीच में दीवार खड़ी कर दी है। इससे आपसी मतभेदों और गलतफहमियों को बढ़ावा मिलता है और पारस्परिक हितों में संघर्ष की स्थिति आ जाती है। इस स्थिति का निवारण कर्मचारी सम्बन्ध से निश्चय ही सुधारे जा सकते हैं और इसमें जन-सम्पर्क की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

---

17 व्यवसायी वर्ग एवं राजकार्य पद्धति, व्यवसाय का सार्वजनिक नियन्त्रण, नियन्त्रण की तकनीक

(Businessmen and State Craft, Social Control of Business, Technique of Control)

व्यवसायी-वर्ग एवं राजकार्य पद्धति
(Business-men and State Craft)

अर्द्ध-विकसित देशो मे प्रचलित निर्धनता के विषैले वृत्तो (Vicious Circles) को तोड़ने एव विद्यमान राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सस्थागत अवरोधो (Bottle Necks) पर विजय प्राप्त करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इन देशों मे द्रुत आर्थिक विकास के लिए राज्य का महत्त्व अधिकाधिक बढता जा रहा है। सोवियत सघ, चीन आदि साम्यवादी सभी देशो मे सभी छोटे बडे उद्योगो की स्थापना और विकास सरकार द्वारा किया जाता है। पूंजीवादी देशो मे भी सरकार का अर्थ-व्यवस्था का प्राविधिक एव भौतिक आधार की वृद्धि मे हस्तक्षेप बढ रहा है। सभी देशों में अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता कायम करने हेतु सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाता है। भिन्नता केवल सरकारी हस्तक्षेप की मात्रा पर है। यह सही है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था मे आज भी निजी क्षेत्र का मुख्य स्थान है। उत्पादन के सभी महत्त्वपूर्ण साधन पूंजीपतियो के स्वामित्व एव नियन्त्रण मे हैं। सरकार तो केवल उनका नियमन तथा पथप्रदर्शन ही करती है। तथापि, सभी देशो में सरकारी हस्तक्षेप की वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय के अनुपात मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

प्राचीन काल में स्वतन्त्र व्यापार नीति (Laissez Faire) के सिद्धान्तो के आर्थिक क्षेत्रो मे सरकार का हस्तक्षेप करना अथवा सक्रिय भाग लेना उचित नही समझा जाता था। अर्थ-शास्त्र के प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियो (Classical Economist) का विचार था कि सरकार का दायित्व केवल देश की सुरक्षा, न्याय व्यवस्था, एव नागरिक प्रशासन तक ही सीमित होना चाहिए। अर्थात् सरकार का हस्तक्षेप न्यूनतम्

1. *Das, Nabagopal*: The Public Sector in India.

रहे, परन्तु यह विचारधारा अधिक समय तक नहीं रह सकी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही समाजवादी प्रवृत्तियाँ उदय होने लगी। और शताब्दी के प्रारम्भ से तो वे अनेक देशों में प्रबल हो उठी। पूँजीपतियों और उद्योगपतियों के विशाल एवं शक्तिशाली संगठनों व एकाधिकारों के सम्मुख-समाज के अधिकांश साधन-हीन वर्गों का टिक सकना उस समय तक सम्भव नहीं हो सकता, जब तक कि सरकार उनकी आर्थिक दशा में सुधार करने के उद्देश्य से आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय भाग नहीं लेती। अतः सामाजिक एवं आर्थिक न्याय स्थापित करने और आर्थिक सत्ता का कुछ व्यक्तियों अथवा उनके समूहों में केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए सरकार का प्रवेश अवश्य हो गया।

आज विश्व के अर्द्ध-विकसित देशों में श्रम शक्ति का आधिक्य, निम्न पूँजी निर्माण, प्राविधिक विकास की कमी तथा योग्य साहसियों की कमी आदि मुख्य समस्याएँ हैं। इन परिस्थितियों में निजी क्षेत्र (Private Sector) में आर्थिक विकास को छोड़ने का अर्थ होगा, बहुत ही शनैः-शनैः विकास की सीढ़ियों पर चढ़ना जो कि वर्तमान काल में प्रचलित आर्थिक विकास की दौड़ में अनुचित है। सैद्धान्तिक स्तर पर जे० एम० केन्स (J. M Keynes) की प्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' ने अधिकांश प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों की मान्यताओं के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया। कीन्स ने सार्वजनिक कार्यों के लिए तथा मौद्रिक राजस्व के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को बढ़ाने के लिए समर्थन किया। आज प्रश्न राज्य के हस्तक्षेप का नहीं है, अपितु यह है कि राज्य हस्तक्षेप किस भाँति एवं किस सीमा तक किया जाए?

निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों का समुचित योग कितना होना चाहिए? यदि अर्द्ध-विकसित देशों में किसी भी प्रकार का आर्थिक विकास का प्रसार करना है तो राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। स्वतन्त्र व्यापार नीति यूरोपियन राष्ट्रों में जो कभी महत्वपूर्ण रही थी वहाँ भी इसे अस्वीकृत कर दिया गया है। अर्द्ध-विकसित देशों में सामाजिक-आर्थिक वातावरण विकसित देशों की अपेक्षा पूर्णतया भिन्न है। अत पूर्णतः निजी लाभ पर आधारित सिद्धान्त इन देशों के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकता है। प्रो० आर्थर लेविस (W A. Lewis) के शब्दों में कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार से सक्रिय प्रोत्साहन पाए बिना आर्थिक विकास नहीं कर सका है।

सरकारी योगदान के कारण
(Causes for the Government Role)

सरकारी योगदान के विस्तार के लिए कई कारण उत्तरदायी रहे हैं। वास्तव में निजी क्षेत्र की बुराइयों के कारण ही सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। दुर्लभ साधनों का अनुचित वितरण, आय एवं धन की विषमताएँ, आर्थिक अस्थिरता, व्यापक बेरोजगारी, एकाधिकारी प्रवृत्तियों की वृद्धि, सार्वजनिक हित की अवहेलना, दीर्घकालीन दृष्टिकोण का न होना, असन्तुलित आर्थिक विकास, परस्पर विरोधी

आर्थिक निर्णय आदि निजी क्षेत्र के दोषो ने ही सरकारी क्षेत्र का विस्तार किया है। सन् 1930 की विश्वव्यापी महामन्दी ने पूँजीवादी नीति के दुर्ग पर अन्तिम प्रहार कर उसे खण्डहरो मे धराशायी कर सदैव के लिए समाप्त कर दिया। बाद में लॉर्ड केन्स की पुस्तक ने भी सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पर अर्थ-शास्त्रियों का ध्यान केन्द्रित किया। इन वर्षो मे द्वितीय महायुद्ध के बाद तथा कल्याणकारी राज्यों (Welfare States) की स्थापना के साथ सरकार का योगदान सभी क्षेत्रों मे बढ़ गया है। प्रो० हेन्सन (Hansen) ने यह तर्क दिया है कि एडम स्मिथ के बाद प्रशासन तकनीक मे पर्याप्त उन्नति हुई है। आधुनिक सरकारें राजनैतिक एव आर्थिक क्षेत्र में बड़ हुए उत्तरदायित्वो को लेने मे समर्थ हैं। सरकारी योगदान के मुख्यतया निम्नलिखित कारण हैं—

राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति (Attainment of Political Freedom)–द्वितीय महायुद्ध के बाद से अब तक एशिया व अफ्रीका के कई छोटे देशो ने, जो लम्बे समय से पश्चिम की बडी शक्तियो के उपनिवेश या अधीन रहे थे, अब राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है। इस राजनैतिक स्वतन्त्रता ने निर्धन देशो की स्थिति सुधार दी है। वे भी पश्चिम के विकसित देशो को प्राप्त आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख हुए हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की राष्ट्रीय चेतना का उदय उनमे भी हुआ है। अतः इस आर्थिक राष्ट्रवाद की भावना तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना के आदर्श ने सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तनो के लिए इन देशो मे सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार का समर्थन किया है। इसलिए इन देशों में उद्यमकर्त्ता का स्थान सरकार ने ग्रहण कर आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण किया है।[1]

दुर्लभ साधनों का आवंटन (Allocation of Scarce Resources)—अर्द्ध-विकसित देशों में साधनों की न्यूनता उनकी प्रमुख विशेषता है। न्यून साधनो का अपव्यय न होवे, उसके लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। विकसित देशो मे भी राज्य का हस्तक्षेप अभाव व दुर्बलता के समय (Period of Shortage and Scarcity) अनिवार्य है जैसा कि युद्ध आदि में आवश्यक हो जाता है। पेरी मेन्डस फ्रेंग (Pierre Mendges Frange) तथा ग्रेबाइल आरडेन्ट (Grabiel Ardent) का यह तर्क है कि अर्द्ध-विकसित देशों मे उपर्युक्त कारणों से ही समूहवाद (Collectivism) आकर्षित हुआ है तथा इन्ही देशो में यह सर्वप्रथम विकसित हुआ है। साधनों की दुर्बलता तथा विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक दृढताओ के कारण इन देशो का स्वत (Spontaneous) विकास असम्भव है। अत जैसा कि प्रो० आर्थर लेविस (Lewis) का मत है *कि इन देशो में सरकार द्वारा आर्थिक मामलो मे विवेकशील निर्देशन* विकसित देशो की अपेक्षा अधिक आवश्यक तथा उसके सचालन मे अधिक कठिन है।

सामाजिक पूँजी का निर्माण एव आर्थिक विकास की गति को बढाना—कम समय मे आर्थिक विकास की गति को बढाने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार

1. *D. B Singh* : Economics of Developments.

करना होता है। पिछड़े देशो मे विभिन्न बाधाओ व कठिनाइयो के कारण कुछ विनियोग के ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ कि लाभ बहुत ही कम है और सम्भवत प्रारम्भ मे हानि भी उठानी पड़े। तथापि, इस प्रकार के विनियोग का भावी आर्थिक विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ कि मूलभूत विकास के लिए अनेक ऐसी मदो मे विनियोग करने की आवश्यकता है जैसे कि शिक्षा, पौष्टिक भोजन, सड़क विकास, सार्वजनिक स्वास्थ्य एव चिकित्सा के कार्यक्रम तथा जनसमुदाय के लिए तकनीकी प्रशिक्षण की व्यवस्था आदि। इन मदो मे लगाया गया धन यद्यपि एक काफी लम्बे समय के पश्चात् केवल परोक्ष रूप से ही उत्पादक सिद्ध हो सकता है, परन्तु अर्द्ध-विकसित देशो की कार्य कुशलता तथा उनके आर्थिक विकास के लिए ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक होता है।

संतुलित आर्थिक विकास (Balanced Economic Growth)—देश के सतुलित आर्थिक विकास की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र का विशेष महत्त्व है। सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा उचित एव सतुलित योजनाओ के निर्माण से सतुलित आर्थिक विकास की नीव स्थापित करना सम्भव है। निजी क्षेत्र मे आर्थिक विकास का कार्य जोड़ देने से कभी-कभी यह होता है कि देश के कुछ भाग जो प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न हैं, अधिक विकसित हो जाते है और कुछ भाग आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ जाते हैं। यदि सभी उद्योगो का विकास सरकार द्वारा किया जाय तो देश के विभिन्न भागो का सतुलित रूप मे विकास करने को अवसर मिलता है।

सामाजिक कल्याण सम्बन्धी एवं जनोपयोगी सेवाओ का विकास—राष्ट्रीय महत्त्व के ऐसे अनेक उद्योग हो सकते हैं, जिनमे निजी नियन्त्रण की अपेक्षा सरकारी नियन्त्रण उत्तम समझा जाता है जैसे—विद्युत उत्पादन एव वितरण, रेल, वायु एवं परिवहन, डाकतार, सूचना एव प्रसारण इत्यादि जनोपयोगी सेवाओ (Public Utility Services) की श्रेणी मे हैं और इनका सचालन लाभ की भावना से ही नही होना चाहिए। अत इस ओर सरकार को पहल करनी पड़ती है।

आर्थिक विषमताओं को दूर करना और पूँजी संचय—विकसित देशो में आर्थिक क्रान्ति के पश्चात् राजनैतिक क्रान्ति आई है, परन्तु अर्द्ध-विकसित देशो मे इसके विपरीत राजनैतिक क्रान्ति के पश्चात् आर्थिक क्रान्ति हो रही है। इससे इन देशो में पूँजी सचय मे बड़ी कठिनाई आ रही है। औद्योगिक क्रान्तिपूर्ण होने के पूर्व ही श्रम की मजदूरी बढ़नी आरम्भ हो गई है। अतः सामाजिक तथा आर्थिक समानता लाने वाले उपायो का विशेष महत्त्व है। विकसित देशो मे कल्याणकारी राज्य-नीति से असमानताएँ काफी कम हो गई हैं। तीव्र औद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरण मे असमानताएँ रहेंगी। परन्तु अर्द्ध-विकसित देशो मे समान वितरण के उपायों से केवल गरीबी का ही सम विभाजन होगा। गुनार मिर्डल (Gunnar Myrdal) के अनुसार इन देशो मे समान वितरण के उपायों से अधिक महत्त्वपूर्ण धन का सचय है। धन की बिना वृद्धि के वितरण केवल मात्र गरीबी का वितरण होगा।

बाजार को विस्तृत करना (Expansion of Market)—अर्द्ध-विकसित

देशों का बाजार सकुचित होना है। इन देशों मे बाजार को विस्तृत करने के लिए सरकार को इस क्षेत्र मे प्रवेश करना पडेगा तथा इस प्रकार की सस्थाओ का विकास करना पडेगा जो विस्तृत बाजार का आधार बनाती है। अधिकोषण प्रणाली (Banking System) इन देशो मे काफी पिछडी हुई है। इसी भाँति जीवन बीमा आदि वित्तीय सस्थाएँ भी अपूर्ण रूप से विकसित हैं। सगठित मुद्रा बाजार (Organised Money Market) बहुत सीमित है सरकार को इन सभी सुविधाओ को बढाने के लिए काफी महत्त्वपूर्ण सहयोग देना पडगा। निजी लाभ की खोज मे रहने वाले उद्योगपतियो मे इस प्रकार के कार्यो की आशा करना व्यर्थ है।

समाजवादी समाज की स्थापना (Concept of Socialistic Society)—*वर्तमान समय मे अधिकाँश राष्ट्रो का ध्येय समाजवादी समाज की स्थापना का है।* आर्थिक विकास समाजवाद की प्राप्ति का साधन है। भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना हेतु योजनाओ का सहारा लिया गया है। ऐसी दशा मे सार्वजनिक क्षेत्र *का विस्तार बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से सरकारी हस्तक्षेप कोई* अस्थायी आवश्यकता नही है। जो कि कुछ समय के लिए आवश्यक हो और फिर निजी क्षेत्र के हाथो मे पहुँचा दिया जाए जैसा कि जापान मे किया गया। लेकिन इसके *विपरीत सार्वजनिक क्षेत्र तथा सार्वजनिक उद्योग समाजवाद के प्रतीक बन* चुके हैं। अत इस ओर सरकार का कार्य क्षेत्र काफी बढ गया है।

अस्तु, राज्य का महत्त्व अर्द्ध-विकसित देशो के लिए बहुत है। इन देशों मे *राज्य का एक नवप्रवर्तक (Innovator) तथा अनुकरणकर्त्ता* (Adaptor) दोनों ही हैं। प्रो० हस सिगर (Hans Singer) इस निष्कर्ष से सहमत नही हैं कि उनके अनुसार यदि सरकार उद्यमकर्त्ता का कार्य भी आरम्भ करती है तो वह अपने सामान्य कर्त्तव्यो से विचलित हो जाएगी और प्रशासन पर भी काफी भार बढ जाएगा। इससे एक चरम राष्ट्रवाद का जन्म होगा। परन्तु हमारे अनुसार सिंगर का यह भय अनिरजित है। यह कहा जाता है कि देश जितना पिछडा है उतना अधिक सरकार का महत्त्व होता है। आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का प्रवेश इस आधार पर भी उचित है कि उसके पास इस भार को वहन करने की क्षमता है। आधुनिक सरकार न केवल साधनो की स्वामी एव नवप्रवर्तक (Innovator) है बल्कि एक बहुत बडी उपभोक्ता व्ययकर्त्ता व बचतकर्त्ता भी है। अपनी इस आर्थिक शक्ति के प्रभाव से ये सामाजिक लाभ मे वृद्धि कर सकती हैं जो कि निजी पूँजीपतियों की क्रियाओ द्वारा सम्भव नही हैं। अत अर्द्ध-विकसित देशो मे राज्य का बढता हुआ कार्यक्षेत्र अनुचित नही है। राज्य की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका का परिणाम राष्ट्रीयकृत *(Nationalised) क्षेत्र का विस्तार होगा। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि* निजी क्षेत्र का एकदम उन्मूलन कर दिया जायगा। प्रो० ऑस्कर लांगे (Oskar Lange) के अनुसार कुशलता पूर्वक निर्देशित तथा प्रबन्धित सार्वजनिक विनियोग अर्द्ध-विकसित देशों मे आर्थिक विकास का मुख्य उत्तोलक सिद्ध होगा। सार्वजनिक विनियोग की इस वृद्धि से अन्तत प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से निजी क्षेत्र का भी विस्तार होगा तथा इससे अर्थ-व्यवस्था का सर्वांगीण विकास भी होगा।

व्यवसाय का सामाजिक नियन्त्रण–राष्ट्रीयकरण
(Social Control of Business–Nationalisation)

प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री जे. बी. से (J. B. Say) का कहना था कि "वह सरकार सबसे अच्छी समझी जाएगी जो आर्थिक मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करे।" इस नीति का समर्थन एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों द्वारा भी किया गया। वास्तव में जिस काल में यह विचार व्यक्त किए गए वह 'स्वतन्त्र व्यापार' (Laissez Faire) का युग था। उस समय राज्य द्वारा आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश करना निषिद्ध तो नहीं, वरन् अवान्छनीय अवश्य समझा जाता था। धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलने लगीं, पूँजीवाद अथवा पूँजीवादी उपक्रमों के दोष दृष्टिगोचर हुए, आर्थिक अस्थिरता, शोषण, अवरुद्ध आर्थिक व औद्योगिक विकास, सीमित मानवीय कल्याण जैसी समस्याओं की ओर अर्थ-व्यवस्थाओं का ध्यान आकर्षित हुआ। फलस्वरूप राज्य हस्तक्षेप की परिधि बढ़ाई जाने लगी और महान् अर्थ-शास्त्री एडम स्मिथ का यह कहना था कि "प्रत्येक व्यक्ति को जब तक कि वह वैधानिक नियमों का उल्लंघन नहीं करता, अपने हित व स्वार्थ को अपने ही ढंग से पूरा करने तथा दूसरे व्यक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा में अपने व्यवसाय के चुनने एवं पूँजी के विनियोग करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए," ये शब्द जो सदियों से स्वीकृत किए जा रहे थे, ठुकरा दिए गए।

इसी बीच समाजवादी आर्थिक प्रणाली का जन्म हुआ जिसने इन परम्परागत विचारों के बिल्कुल विपरीत 'राज्य एवं समाज' को एक नई परिभाषा दे डाली। इतना ही नहीं, विश्व युद्धों में निर्मित गम्भीर परिस्थितियों के फलस्वरूप विश्व की अधिकांश अर्थ-व्यवस्थाएँ निर्धनता के कगार पर खड़ी थीं। ऐसी दशा में समाज, राष्ट्र, आर्थिक एवं औद्योगिक विकास तथा मानवीय दृष्टि से यह आवश्यक समझा गया कि राज्य की भूमिका को बढ़ाया जाय, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जाय और अर्थ व्यवस्था का विकास नियोजित ढंग से किया जाए।

राष्ट्रीयकरण से आशय

राष्ट्रीयकरण का सामान्य अर्थ है उत्पत्ति के साधनों पर राज्य का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होना। ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार, "राष्ट्रीयकरण से अभिप्राय भूमि, सम्पत्ति, व्यवसाय एवं उद्योगों को राष्ट्रीय सरकार के नियन्त्रण में लाना है।" ध्यान रहे मात्र नियन्त्रण से राष्ट्रीयकरण की परिभाषा पूरी नहीं हो जाती, बल्कि इसके लिए तो स्वामित्व का सरकारीकरण होना आवश्यक है। अतः इस दृष्टि से जब किसी आर्थिक इकाई अथवा उद्योग का स्वामित्व एवं नियन्त्रण सरकार के हाथों में होता है तो वह इकाई अथवा उद्योग राष्ट्रीयकृत माना जाता है।

राष्ट्रीयकरण की नीति का महत्त्व

आजकल राष्ट्रीयकरण आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का एक पर्यायवाची शब्द मान लिया गया है। विश्व की सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ, भले ही

विकसित, अर्द्ध-विकसित अथवा विकासशील अर्थ व्यवस्था हो, राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाए हुए हैं । विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए राष्ट्रीयकरण एक अपरिहार्य (Inevitable) कदम समझा जाने लगा है ।

संक्षेप में अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का महत्त्व इन बातों से परिलक्षित होता है—

(i) विकास की धीमी गति में तीव्रता लाने की दृष्टि से सरकार का आर्थिक विकास में *प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना आवश्यक है ।*

(ii) आर्थिक असमानताएँ एवं आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर रोक लगाने के लिए उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है ।

(iii) उद्यमशीलता का अभाव तथा विशाल पूँजी की आवश्यकता, निजी क्षेत्र की दो प्रमुख समस्याएँ हैं जिनका निराकरण, राज्य अपने क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना द्वारा ही कर सकता है ।

(iv) क्षेत्रीय असन्तुलनों को कम करने का एक मात्र उपाय, सरकार द्वारा *स्वयं उन क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करना है जहाँ निजी क्षेत्र अग्रसर* होने के लिए तैयार नहीं ।

(v) इसके अलावा अर्द्ध-विकसित देशों में विकास वित्त को पूरा करने, समाज कल्याण में वृद्धि करने श्रमिकों व उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने, आर्थिक एवं औद्योगिक संरचना का आधार तैयार करने तथा आर्थिक नियोजन के लक्ष्यों की पूर्ति की दृष्टि से राज्य का *आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश अर्थात् उद्योगों का स्वयं संचालन करना आवश्यक* माना जाता है ।

अभी हाल ही में, अर्थात् सितम्बर 1973 को होने वाले निर्गुट राष्ट्रों के शिखर सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया है जिसमें सभी राष्ट्रों को विकास की दृष्टि से अपने कच्चे माल तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का अधिकार प्रदान *किया गया है ।*

क्या उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है ?

(Is Nationalisation of Industries Essential ?)

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का ध्येय कुछ भी क्यों न हो, इसकी वाञ्छनीयता सदैव से ही कटु आलोचनाओं एवं विवाद का एक विषय रही है । प्राचीन विचारकों की बात तो जाने दीजिए आज भी इस मुद्दे पर सभी विचारक एक मत नहीं हो सके । कुछ लोग राष्ट्रीयकरण को आवश्यक एवं अपरिहार्य मानते हैं तो ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जो इसे *सरकार द्वारा उद्योगों का किया गया अनावश्यक, निरर्थक,* अपव्ययी एवं अविवेकपूर्ण अपहरण समझते हैं । यदि राष्ट्रीयकरण, औद्योगीकरण की समस्त बुराइयों की अचूक दवा है तो भ्रष्टाचार, निम्न उत्पादकता एवं साधनों के दुरुपयोग का श्रेय भी इसे ही दिया जाता है । कुछ भी हो इससे पूर्व कि हम अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचें, यह अधिक उचित होगा कि राष्ट्रीयकरण के पक्ष एवं विपक्ष में दिए जाने वाले तर्कों का विधिवत् अध्ययन कर लिया जाय ।

(अ) राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क
(Arguments in Favour of Nationalisation)

1. निजी एकाधिकारों पर नियन्त्रण—उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने पर निजी क्षेत्र में पाए जाने वाले औद्योगिक संयोजन एवं एकाधिकार समाप्त हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप जनता को शोषण से मुक्ति मिलती है और उनके हितों में वृद्धि होने लगती है।

2 सार्वजनिक कल्याण में वृद्धि—निजी क्षेत्र के उद्योगों का मूल उद्देश्य लाभ कमाना होता है जबकि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग लाभ अर्जन करने की दृष्टि से नहीं बल्कि सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से संचालित किए जाते हैं। लोगों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ सही मूल्य पर उपलब्ध होती रहें, सरकार की सदैव यह इच्छा रहती है। अतः इस दृष्टि से उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक हो जाता है।

3. आय व धन का समान वितरण—राष्ट्रीयकरण की नीति को स्वीकार कर लेने पर, एक तरफ देश में पाई जाने वाली विद्यमान असमानताओं को समाप्त किया जा सकता तो दूसरी तरफ सरकारी उद्योगों से प्राप्त होने वाली चालू राष्ट्रीय आय को पुन जन-साधारण में वितरित कर दिया जाता है। इससे सामाजिक न्याय एवं आय-वितरण की समानता का लक्ष्य पूरा करने में मदद मिलती है। ध्यान रहे, निजी उद्योगों की आय निजी क्षेत्र अर्थात् कुछ गिने-चुने लोगों को प्राप्त होती है, जिसमें अमीर और अधिक अमीर होने लगता है और गरीब की स्थिति और भी अधिक भयानक हो जाती है।

4 उत्पादकता में वृद्धि—राष्ट्रीयकरण से औद्योगिक उत्पादकता में वृद्धि होती है। पहली बात तो यह है कि राष्ट्रीयकरण से अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा तथा विज्ञापन आदि पर होने वाले दोहरे व्यय कम हो जाते हैं और दूसरे, सरकार के वित्तीय, मानवीय, तकनीकी एवं भौतिक साधन अधिक सुदृढ होते हैं और उन्हें सरलता पूर्वक जुटाया जा सकता है। इस प्रकार एक तरफ उत्पादन की लागत में कमी होती है तो दूसरी तरफ उपक्रमों के विस्तार की सम्भावना बढ जाती है जिसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होने लगती है।

5 सन्तुलित क्षेत्रीय विकास—राष्ट्रीयकरण की नीति अपना लेने पर सरकार नए उद्योगों की स्थापना अविकसित क्षेत्रों में अधिक करने लगती है, क्योंकि सरकार का उद्देश्य अधिक लाभ को कमाने के बजाय, देश के सभी क्षेत्रों व समाज के सभी वर्गों को विकास के समान सुअवसर उपलब्ध कराना है। निजी क्षेत्र के बने रहने पर संतुलित क्षेत्रीय विकास की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि निजी उद्योगपतियों का लक्ष्य सरकार से सर्वथा भिन्न होता है।

6 कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों के लिए अनिवार्यता—कुछ लोगों का विचार है कि सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग तथा जन-उपयोगी सेवाएँ जैसे रेलवे, डाक-तार जल-पूर्ति, विद्युत आदि उद्योगों की स्थापना एवं संचालन सदैव सार्वजनिक क्षेत्र में

ही किया जाना चाहिए। इसका कारण, इन उद्योगो की विकास लागत अधिक होती है जबकि लाभ की दर कम बनी रहती है और यह दो विपरीत दशाएँ निजी क्षेत्र के महारथियो को प्राय अनुकूल नही बैठती।

7 आर्थिक स्थायित्व एवं तीव्र आर्थिक विकास—उद्योगो के प्रबन्ध व स्वामित्व पर सरकार का नियन्त्रण होने की दशा मे, आर्थिक व औद्योगिक क्षेत्र मे पूर्ण स्थायित्व बना रहता है क्योकि सरकार अपनी सर्वोच्च एव एकाधिकारी स्थिति के कारण मांग व पूर्ति मे असन्तुलन उत्पन्न नही होने देती। ध्यान रहे, आर्थिक स्थायित्व के बिना तीव्र आर्थिक विकास नही हो सकता क्योकि यह इसकी एक अनिवार्य शर्त है।

8 सुदृढ़ वित्तीय स्थिति—विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे आर्थिक सरचना के निर्माण और भारी उद्योगो की स्थापना के लिए विशाल धन-राशि की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति निजी क्षेत्र द्वारा नही की जा सकती। इसलिए कुछ लोगो का कहना है कि एक देश जब तक विकसित अवस्था मे नही पहुँच जाता तब तक उद्योगो का सचालन व स्वामित्व राज्य के आधीन होना चाहिए।

9 विकास-वित्त की सहज पूर्ति—आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत चलाए गए विकास कार्यक्रमो के लिए बडी मात्रा मे धन की आवश्यकता होती है। अत यदि सरकार उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर ले, तो विकास-वित्त (Development Finance) की सहज पूर्ति हो सकती है साथ-ही-साथ करारोपण व हीनार्थ प्रबन्धन के रूप मे समाज पर पडने वाला अतिरिक्त भार कम हो सकता है क्योकि सार्वजनिक उपक्रमो से सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त होने लगती है।

10. श्रम समस्याओं का समाधान—राष्ट्रीयकृत उद्योगो मे श्रम-समस्याएँ एवं औद्योगिक सघर्ष कम होते हैं क्योकि उचित मजदूरी, कार्य करने की उत्तम दशाएँ कार्य करने के निश्चित घण्टे, प्रबन्ध मे भागीदारी लाभ-अ श भागिता तथा किसी भी प्रकार के शोषण आदि के न होने के कारण श्रमिक वर्ग, उद्योग के प्रति अधिक कर्त्तव्य निष्ठ होकर कार्य करता है और इस प्रकार श्रम-समस्याएँ स्वतः ही सुलझने लगती हैं।

11 अधिक रोजगार—राष्ट्रीयकरण का सबसे बडा लाभ बढते हुए रोजगार के रूप मे प्राप्त हो सकता है। प्रो. के टी शाह के मतानुसार, "उत्पादन का समाजीकरण ही एक ऐसा उपाय है जिसके अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखा जा सकता है।" यह सत्य भी है क्योकि निजी क्षेत्र के उद्योगो मे *विवेकीकरण व वैज्ञानिक प्रबन्ध आदि को लागू करने का मुख्य उद्देश्य,* रोजगार के सुअवसरो मे वृद्धि करना रहता है।

(ब) राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क (Arguments against Nationalisation)—राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे उपर्युक्त सभी तर्क या तो शिष्टाचारवश दिए जाते हैं या फिर पाठ्य पुस्तको की शोभा बढाने मात्र के लिए उनका वर्णन किया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रीयकरण एक भावात्मक नारा है और

जिससे केवल एक अक्षम, निकम्मी एवं अकर्मण्य सरकार ही अपनाती है। राष्ट्रीयकरण की नीति औद्योगिक विकास की सबसे बडी रुकावट है और इसका कार्यकुशलता, उत्पादकता और विकास से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। साधारणतया राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे निम्न तर्क दिए जाते हैं—

1. प्रबन्ध एवं सचालन में अकुशलता—सार्वजनिक उपक्रमों का प्रबन्ध एव सचालन त्रुटिपूर्ण होने के कारण उनकी कार्यकुशलता का स्तर बहुत नीचा होता है। विशेष रूप से सरकारी उपक्रमों की प्रबन्धकीय व्यवस्था में "अफसरशाही" (Bureaucracy) तथा "लालफीताशाही" (Red-tapism) का जोर होता है। जिसके फलस्वरूप शीघ्र निर्णय लेने की क्रिया नियमो की कठोरता के चक्रव्यूह मे फँसकर दम तोड देती है। इतना ही नही, सरकारी अफसरो मे दायित्व से बचने, निर्णय लेने मे देरी करने तथा विकास के लिए प्रयास न करने की आदतें पाई जाती हैं जिसका परिणाम उपक्रम को घाटे के रूप और जनता को अतिरिक्त कर-भार के रूप मे वहन करना पडता है।

2 आर्थिक उत्प्रेरणा का अभाव—आर्थर यग का यह कथन कि 'निज-हित का जादू रेत को सोने मे बदल देता है, अक्षरश सत्य है। परन्तु सरकारी कर्मचारियो मे निज-हित की भावना का अभाव होता क्योंकि उनका दृष्टिकोण तो केवल वेतन की मात्रा और उसके प्राप्त होने की तिथि तक ही सीमित बना रहता है। निजहित अथवा आर्थिक उत्प्रेरणाओ (Economic Incentives) के अभाव मे कार्यकुशलता व उत्पादकता का ह्रास होता है और उत्पादन लागत, अपव्यय एव घाटे मे वृद्धि होती है।

3 अवरुद्ध विकास—राष्ट्रीयकरण के कारण निजी क्षेत्र को अपनी क्षमताओ का विकास करने का न तो पूरा अवसर मिलता है और न इसके भय से वे अपनी पूँजी उद्योगो मे ही लगा पाते हैं। फलस्वरूप एक तरफ, निजी क्षेत्र की पूँजी विदेशो को निर्यात होने लगती है तो दूसरी तरफ कुशल उद्यमियो एव व्यवसायियों की क्षमता का उपयोग नहीं हो पाता। कुल मिलाकर इसका परिणाम यह होता है कि देश का आर्थिक एव औद्योगिक विकास अवरुद्ध होने लगता है।

4 औद्योगिक अस्थिरता—आधुनिक युग मे सरकारो का स्वरूप अत्यन्त अस्थायी होता है। एक सरकार यदि किसी विशेष प्रकार की आर्थिक एव औद्योगिक नीति अपनाती है तो इसके बाद पदारूढ होने वाली सरकार इन नीतियो को पूर्णतया बदल देती है। इसका परिणाम यह होता है कि सरकारी नीतियो मे किए जाने वाले शीघ्रतर परिवर्तन औद्योगिक जगत मे अस्थिरता उत्पन्न कर देते हैं जिसमे देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध होने लगता है। विशेष रूप से आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत चालू की गई दीर्घकालीन विकास परियोजनाओं पर अस्थिर प्रशासन एव दूषित राजनीति का बहुत बुरा प्रभाव पडता है।

5. व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा का अन्त—राष्ट्रीयकरण का अर्थ है प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करते हुए सरकारी एकाधिकार की स्थापना करना। परन्तु यह कहना

अनावश्यक न होगा कि प्रतिस्पर्द्धा, व्यावसायिक उन्नति का मुख्य आधार है। प्रतिस्पर्द्धा के अभाव में उत्पादन की मांगों को बढ़ाने, लागत को घटाने, वस्तु के गुण व स्तर में सुधार आदि करने की कोई सम्भावना नहीं होती, क्योंकि सरकार एवं उनके कर्मचारी उद्योग विशेष की उन्नति का कोई प्रयास नहीं करते। फलस्वरूप स्वतन्त्र बाजार यन्त्र (Market Mechanism) के अभाव में औद्योगिक क्षेत्र में जड़ता आ जाती है जिसका नुकसान उपभोक्ताओं को उठाना पड़ता है। आस्कर लेंज का कहना है कि "जहां तक सरकारी एकाधिकार और निजी एकाधिकार में चुनाव का प्रश्न है निःसन्देह उपभोक्ता की दृष्टि से निजी एकाधिकार फिर भी उत्तम कहा जाएगा।"

6 जनता एवं उपभोक्ताओं के हितों का असुरक्षित होना---अकुशल प्रबन्ध एवं संचालन, उद्यमशीलता का अभाव तथा व्यावसायिक सिद्धान्तों का ज्ञान न होने के कारण राजकीय उपक्रम सदैव हानि में चलते हैं और यह हानि अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं को अतिरिक्त करारोपण के रूप में वहन करनी पड़ती है। इतना ही नहीं उद्योगों का नियमन तो सरकार करती है,परन्तु सरकारी उद्योगों में अनियमितता होने पर उनका नियमन कौन करेगा, यह प्रश्न आज भी अधर में लटका हुआ है। सरकार स्वयं एक सर्वोच्च सत्ता है और उस पर आवश्यक नियन्त्रण न लगाए जाने की स्थिति में जनता के हितों की सुरक्षा करना सम्भव न हो सकेगा।

7 प्रशासकीय एवं व्यावसायिक सिद्धान्तों में पृथक्ता का होना--ध्यान रहे, प्रशासन और व्यवसाय दो अलग-अलग क्षेत्र हैं और उनके सिद्धान्तों में काफी अन्तर है। सरकारी कर्मचारियों को व्यवसाय के प्रबन्ध व संचालन का कोई ज्ञान नहीं होता, वे तो अपने से सीनियर के सम्मुख झुकना और जूनियर को झुकाने की कला में प्रवीण होते हैं। जरूरत से ज्यादा सतर्कता, किसी विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श न करना और निर्णयों को टालते रहना, इस क्षेत्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं जबकि व्यावसायिक एवं औद्योगिक जगत में यह बातें न केवल बाधक सिद्ध होती हैं बल्कि उद्योग को पतन की ओर ढकेल देती हैं।

नियन्त्रण की तकनीक
(Technique of Control)

भारत में औद्योगिक विकास का नियम सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से आवश्यक है। अस्तु, अक्तूबर 1951 में उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम पारित हुआ जो मई 1952 में लागू हुआ। इस अधिनियम के पारित करने का प्रधान उद्देश्य भारतीय उद्योगों के विकास को इस प्रकार नियमित करना है कि समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लक्ष्य के साथ-साथ त्वरित औद्योगिक विकास (Accelerated Economic Development) और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय की व्यवस्था भी सम्भव हो। इसके लिए राष्ट्रीय स्रोतों का अनुकूलतम प्रयोग, वृहत तथा लघु आकार के उद्योगों का सन्तुलित विकास और देश के विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों का सन्तुलित वितरण आवश्यक है। उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम इन उद्देश्यों को प्राप्त करने की दिशा में एक प्रयास मात्र है।

औद्योगिक (विकास एवम् नियमन) अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं—

(i) प्रतिबन्धात्मक प्रावधान
(ii) सुधारात्मक प्रावधान
(iii) रचनात्मक उपाय

(1) प्रतिबन्धात्मक प्रावधान (*Preventive Provisions*)

प्रतिबन्धक प्रावधानों के अन्तर्गत अधिनियम के वे सभी प्रावधान आते हैं जिनके द्वारा उद्योगों की अवान्छनीय प्रवृत्तियों पर रोक लगाई जाती है । ये प्रावधान निम्नलिखित हैं—

औद्योगिक प्रतिष्ठानों का रजिस्ट्रेशन तथा अनुज्ञापन (Registration and Licensing of Industrial Undertakings)—उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 की अनुसूची मे जिन उद्योगों को रखा गया है उनके सभी प्रतिष्ठानो का रजिस्ट्रेशन आवश्यक है चाहे वे निजी क्षेत्र मे हों अथवा सार्वजनिक क्षेत्र मे । वर्तमान प्रतिष्ठान यदि विस्तार करना चाहें तो इसके लिए भी केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति आवश्यक है। केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारो द्वारा स्थापित किए जाने वाले प्रतिष्ठानो के अनुज्ञापन की आवश्यकता नही पडती । परन्तु राज्य सरकार को किसी भी प्रतिष्ठान की स्थापना से पूर्व इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त कर लेनी चाहिए । केन्द्रीय सरकार निजी अथवा सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थापित होने वाले किसी भी प्रतिष्ठान को अनुज्ञापन देने के साथ-साथ उन पर आकार अथवा स्थानीयकरण आदि के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध लगा सकती है । अनुज्ञापन दे देने के बाद भी केन्द्रीय सरकार को उसमे सशोधन अथवा उसके निरसन का अधिकार रहता है । लाइसेन्सी यदि निर्धारित समय के भीतर उद्योग की स्थापना करने मे असमर्थ रहता है, अथवा उसने यदि रजिस्ट्रेशन किसी झूठे आधार पर प्राप्त किया है या उद्योग को ही रजिस्ट्रेशन से छूट प्रदान कर दी गई है तो अनुज्ञापन का निरसन अथवा सशोधन किया जा सकता है ।

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित श्रेणी के उद्योगो के लिए अनुज्ञापन लेना आवश्यक है—

(i) अधिनियम की अनुसूची मे जिन उद्योगो का उल्लेख है उनसे सम्बन्धित नवीन औद्योगिक प्रतिष्ठानों को यदि उनमे 200 से अधिक श्रमिक कार्य करते हों तथा उनकी स्थायी सम्पत्ति 25 लाख रुपए से अधिक की हो, (ii) उपरोक्त उद्योगों से सम्बन्धित विद्यमान प्रतिष्ठान यदि वे अपनी उत्पादन क्षमता को बढाना चाहें, (iii) विद्यमान उद्योग यदि किसी नवीन वस्तु का निर्माण करना चाहे, (iv) किसी विद्यमान औद्योगिक प्रतिष्ठान को अपना स्थान परिवर्तित करना हो ।

औद्योगिक प्रतिष्ठानो द्वारा अनुज्ञापन के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले आवेदन-पत्रो की जाँच डायरेक्टर जनरल ऑफ टैक्नकिल डेवलपमेन्ट करना है । इस

विभाग द्वारा उद्योगों की ऐसी सूची प्रकाशित की गई है जिसमे उल्लिखित उद्योगो से सम्बन्धित प्रतिष्ठानों की स्थापना के लिए सभी आवेदन-पत्र 'अनुज्ञापन समिति' के पास भेजे बिना ही अस्वीकृत कर दिए जाते हैं। अन्य उद्योगो से सम्बन्धित प्रतिष्ठानो की स्थापना के लिए प्राप्त होने वाले आवेदन-पत्रो पर डायरेक्टर ऑफ टैक्निकल डेवेलपमेन्ट विचार करता है। भारत मे उद्योगो के अनुज्ञापन प्रदान करने की व्यवस्था भारतीय उद्योगपतियों द्वारा निरन्तर आलोचना का विषय रही है। अत इस नीति को सरल बनाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इस सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए ही स्वामीनाथन (J Swaminathan) की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया जिसने अनेक व्यावहारिक सुझावो के साथ इस बात पर जोर दिया कि अनुज्ञापन देने की सम्पूर्ण प्रक्रिया कम समय मे ही पूर्ण हो जानी चाहिए। समिति ने आधारभूत उद्योगो की स्थापना के लिए अनुज्ञापन के सम्बन्ध मे विशेष विधि अपनाने की भी सिफारिश की। सरकार ने स्वामीनाथन समिति के सुझावो को स्वीकार कर लिया है। फलतः अनुज्ञापन प्रणाली अब पहले की अपेक्षा सरल हो गई है।

अनुसूचित उद्योगों की जाँच—उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत सरकार का उत्तरदायित्व प्रतिष्ठान विशेष के रजिस्ट्रेशन अथवा उसे अनुज्ञापन प्रदान कर पूरा नही हो जाता। यदि किसी औद्योगिक इकाई का कार्यान्वयन असन्तोषजनक है, उत्पादन की किस्म खराब है, उत्पादन समुचित मात्रा मे नही हो रहा है अथवा उत्पादित माल की लागत और कीमत अनावश्यक रूप से अधिक है तो केन्द्रीय सरकार को उस प्रतिष्ठान की जाँच करने का अधिकार है।

रजिस्ट्रेशन अथवा अनुज्ञापन का निरस्तीकरण (Revocation of Registration or License)—यदि किसी भी औद्योगिक प्रतिष्ठान का रजिस्ट्रेशन आवेदन-पत्र मे प्रार्थी द्वारा मिथ्या वर्णन के आधार पर प्राप्त कर लिया गया है तो केन्द्रीय सरकार अधिनियम की धारा 10 (अ) के अन्तर्गत रजिस्ट्रेशन को निरस्त कर सकती है। मिथ्या वर्णन के आधार पर प्राप्त किया जाने वाला अनुज्ञापन, अथवा निर्धारित अवधि मे स्थापित न किए जाने वाले प्रतिष्ठान का अनुज्ञापन अधिनियम की धारा 12 के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा निरस्त किया जा सकता है।

(2) सुधारात्मक प्रावधान (*Curative Measures*)

उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम मे निम्नलिखित प्रावधानो का समावेश है—

1 सरकार द्वारा प्रत्यक्ष प्रबन्ध एवं नियन्त्रण (Direct *Management* or Control by Government)—यदि सरकार किसी औद्योगिक प्रतिष्ठान का कार्यान्वयन असन्तोषजनक पाती है तो उसमे सुधार हेतु उचित निर्देश देकर अपेक्षा करती है कि उसके आदेशो का पालन किया जाए। यदि कोई प्रतिष्ठान उसके आदेशो का पालन नही करता तो केन्द्रीय सरकार उसके प्रबध एवं नियन्त्रण को अपने हाथ मे ले सकती है। इसके लिए सरकार को ससद् की अनुमति प्राप्त करनी

होती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा यह निश्चय कर लेने के बाद कि फर्म विशेष का प्रबन्ध अपने हाथ मे लेना है, शासकीय घोषणा द्वारा किसी व्यक्ति को अथवा व्यक्ति समूह को प्रबन्ध लेने के लिए नियुक्त किया जाता है।

2. पूर्ति, वितरण, मूल्य आदि पर नियंत्रण (Control of Supply, Distribution and Price)—अनुसूचित उद्योगो द्वारा उत्पादित माल की पूर्ति, वितरण तथा मूल्य को भी केन्द्रीय सरकार शासकीय घोषणा द्वारा नियन्त्रित कर सकती है। वह उन मूल्यो को निर्धारित कर सकती है जिन पर वस्तु विशेष खरीदी और बेची जानी चाहिए। वितरण को ठीक करने के लिए वह आदेश दे सकती है कि माल व्यक्ति विशेष अथवा सस्था विशेष को ही बेचा जाए या उसकी बिक्री बन्द कर दी जाए। वस्तु सम्बन्धी अन्य व्यापारिक तथा वित्तीय व्यवहारों को भी नियन्त्रित करने के व्यापक अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हैं।

(3) रचनात्मक उपाय (*Positive Measures*)

भारत के औद्योगिक विकास की प्रक्रियाएँ सरकार, उद्योग श्रम तथा अन्य हितो मे परस्पर सहयोग उत्पन्न करने के लिए उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम मे केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद्, पुनर्निरीक्षण उप-समिति, केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् की स्थायी समिति के अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्योगों के लिए विकास परिषदो और औद्योगिक पैनलों की स्थापना की गई है।

केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् (The Central Advisory Council)—इस परिषद् का गठन केन्द्रीय सरकार द्वारा किया गया है। इसमे उद्योगपतियो, श्रमिको, उपभोक्ताओ तथा प्राथमिक उद्योगो (Primary Industries) के प्रतिनिधि होते हैं। परिषद् का अध्यक्ष वाणिज्य और उद्योगमन्त्री होता है। परिषद् का उत्तरदायित्व केवल केन्द्रीय सरकार को अनुसूचित उद्योगो के (विकास तथा नियमन) अधिनियम के विधिवत् कार्यान्वयन तथा उसके अन्तर्गत नियमो के निर्माण के सम्बन्ध मे परामर्श देने तक ही सीमित है।

औद्योगिक विकास परिषद् (Industrial Development Council)—सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रो के उद्योगो को एक दूसरे के निकट लाने और निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विकास को नियोजन के लक्ष्यो के अनुरूप बनाने की दृष्टि से विभिन्न उद्योगो के लिए अलग-अलग औद्योगिक विकास परिषदो को गठित किया गया है। इनके प्रधान कार्य हैं—(i) उत्पादन के लक्ष्यो को निर्धारित करना उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्रमो मे सामञ्जस्य स्थापित करना और उद्योग विशेष की प्रगति का अध्ययन करना, (ii) अकुशल इकाइयो को कुशल बनाने के लिए अपव्यय रोकने तथा लागत कम करने और उत्पादन मे गुणात्मक तथा परिमाणात्मक दोनो ही प्रकार के सुधारो के लिए सुझाव देना, (iii) औद्योगिक इकाइयो की पूरी क्षमता के प्रयोग के लिए सलाह देना, (iv) वस्तुओ के उचित वितरण और उद्योगों के लिए आवश्यक माल प्राप्त करने के लिए समुचित व्यवस्था करना, (v) उत्पादन प्रक्रियाओं की जाँच कर उन्हें विभाजित कर सकने की सम्भावनाओं का पता लगाना जिससे उद्योग विशेष का

विकेन्द्रीकरण किया जा सके, (vi) उत्पादन तकनीक के सम्बन्ध मे शोध कार्य को प्रोत्साहित करना, (vii) कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (viii) केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार जांच करना तथा परामर्श देना ।

भारत मे विकास परिषदो की स्थापना करते समय स्वय केन्द्रीय सरकार इसकी सफलता के विषय मे सशकित थी । उद्योगपतियो को आशका थी कि विकास परिषदें उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेंगी, परन्तु विगत वर्षों मे इन्होने जिस प्रकार कार्य किया है उससे न केवल उनके विषय मे आशकाएँ निराधार सिद्ध हो गई अपितु अब इनकी उपयोगिता भी निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाने लगी है । जो उद्योग पर्याप्त रूप से विकसित नही हैं उनके लिए विकास परिषदो के स्थान पर औद्योगिक पैनल (Industrial Panels) बनाए गए हैं जो सम्बन्धित उद्योग की समस्याओं का अध्ययन कर केन्द्रीय सरकार को सलाह देते हैं ।

उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त उद्योग (विकास एव नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को नियन्त्रित उद्योगो से सम्बन्धित प्रतिष्ठानो से आंकडे मांगने का अधिकार प्रदान किया गया है । तकनीकी प्रशिक्षण और अनुसंधान कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्रीय सरकार को उद्योगो पर विशेष कर (Cess) लगा कर एक कोष का निर्माण करने का अधिकार दिया गया है ।

उद्योग आयोग (Industries Commission)—25 जुलाई, 1967 को लोक सभा की प्राक्कलन समिति (The Estimates Committee) ने इस समस्या पर कि औद्योगिक नीति प्रस्ताव तथा उद्योग (विकास तथा नियमन) अधिनियम निर्धारित दिशा मे औद्योगिक विकास करने मे कहाँ तक समर्थ हुए हैं, विचार करने के लिए उद्योग आयोग की नियुक्ति की सिफारिश की है । प्राक्कलन समिति की राय मे आयोग द्वारा निश्चित योजना प्रस्तुत की जानी चाहिए जिसके आधार पर औद्योगिक क्षेत्र मे यथासम्भव कम समय मे आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सके । उद्योग आयोग के गठन के सम्बन्ध मे समिति ने सुझाव दिया कि आयोग के सदस्य उद्योग, व्यापार, वाणिज्य, सार्वजनिक क्षेत्र तथा वित्तीय सस्थाओ के प्रतिनिधि और अर्थशास्त्री होने चाहिएँ ।

18 आधुनिक व्यावसायिक जगत में साहसी की समस्या

(The Problem of Enterpreneurship in the Modern Business World)

देश के आर्थिक उत्थान मे उद्यमियो का सहयोग सर्वमान्य है। विकासशील देशों मे यह कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है, चूंकि आर्थिक सक्रान्ति के काल मे साहसिक योग्यता की कमी एक विशाल चुनौती बन कर सामने आ जाती है। रेजट नस्कर्स जैसे प्राचीन अर्थ-शास्त्रियो का मत है कि विकासशील देशों मे केवल साहसी ही पूंजी के अभेद्य दुर्ग को तोड़ने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है तथा पूंजी निर्माण एवं विकास की भावना का विस्तार तथा पूंजी-निर्माण मे आर्थिक शक्तियो को गति प्रदान करता है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों के अनुसार अर्द्ध-विकसित देशों को वर्तमान समय मे साहसियों की कमी की विशाल समस्या का सामना करना पड़ता है और सूक्ष्म तथा योग्य साहसियो की कमी आर्थिक सीमा के निर्धारण का प्रमुख घटक है। इन देशों मे योग्य साहसी की कमी के कारण देश मे विद्यमान राजनैतिक, सामाजिक एवं सस्थागत वातावरण बन जाता है।

साहसी की परिभाषा (Definition of Enterpreneur)—साहसिकता बहुमुखी कार्य है। साहसी की परिभाषा के बारे में काफी गम्भीर मतभेद हैं। उद्यमी का प्रमुख कार्य बताते हुए शुम्पीटर ने लिखा है कि कुछ व्यक्ति एक साहसी को प्रमुखतया अभिप्रेरक मानते हैं। कुछ उद्योगों का प्रबन्धन कुछ जोखिम उठाने वाले तथा कुछ व्यक्ति पूंजी के विभाजन एवं इसे गति प्रदान करने वाले मानते हैं। अतः साहसिकता एक अस्पष्ट चित्र है। व्यावसायिक विकास पूंजी-निर्माण, जोखिम उठाना, तकनीकी अभिप्रेरणा एवं कार्यपटुता तथा व्यवसाय प्रबन्धन एक साहसी के प्रमुख कार्य हैं। आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों ने साहसी को "जोखिम उठाने वाला" या अनिश्चितता वहन करने वाला ही नही माना है बल्कि उसे नवीन विधियों का अन्वेषक (Innovator) भी माना है। प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री शुम्पीटर (Schumpter) के शब्दों में, "एक विकसित देश मे साहसी उस व्यक्ति को कहते हैं जो व्यावसायिक जगत मे किसी नवीन विधि का सर्वप्रथम प्रयोग करता है।"

"भारतीय सन्दर्भ मे एक साहसी उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को कहा जा सकता है जो नवीन उद्योग के लिए उत्तरदायी है।"

एक अर्द्ध-विकसित देश मे साहसी मात्र अभिप्रेरक की विचारधारा पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता, इन देशो में उत्पादन एव विक्रय तथा वितरण की पश्चिमी पद्धतियो के द्वारा उद्योग मे विद्यमान शर्तों के अनुसार छोटे एवं बडे उद्योग का विकास करने वाले व्यावसायिक नेतृत्व महत्त्वहीन हो गया है। वे इस प्रकार के अभिप्रेरक नही हो सकते, किन्तु वे अपने देश की औद्योगिक कमियो को पूरा करने हेतु सक्षम एवं योग्य साहसी हो सकते हैं।

प्रो. बी. एफ. होसलित्ज ने ऐसी साहसिकता को व्यावसायिक प्रगति का प्रतीक माना है एव उनको मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे उचित एव उद्देश्यपूर्ण बताया है।

पश्चिमी देशो के अनुभवो के आधार पर उन्होंने लिखा है कि लघु एव मध्यम श्रेणी के साहसियो को आर्थिक, व्यापारिक एव औद्योगिक क्षेत्र मे कार्य करने की आशा प्रदान की जाए तो उक्त साहसी विकासशील देश मे कई दशको की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

इन्ही कारणो से विकासशील देशों मे प्रमुखतया अभिप्रेरक के रूप मे साहसी को प्रयुक्त नही किया जा सकता है। उद्योगो की पूर्व अवस्था मे साहसी को अभिप्रेरक की अपेक्षा जोखिम उठाने वाला, विकास करने वाला एव कुशल संगठनकर्त्ता होना चाहिए। इन देशो मे तकनीकी अभिप्रेरणा की अपेक्षा रोजगार प्रदान करना अधिक आवश्यक है जैसा कि प्रो० जॉन रिक्मान ने कहा है कि "विकासशील देशो मे अच्छा उद्यमी वह नही है जो पूँजी का प्रयोग करता है, वरन् रोजगार एवं सरक्षण के भण्डार प्रदान करने वाला है। वह व्यक्ति जो अधिक से अधिक रोजगार प्रदान करने पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है देश के अधिक हित मे है।"

आर्थिक साहसी एव औद्योगिक साहसी के मध्य अन्तर सरलतापूर्वक किया जा सकता है जैसा कि कहा जाता है कि औद्योगिक साहसी विकसित देशो की तरह विकासशील राष्ट्र मे सक्रिय नही होता। औद्योगिक साहसियो के विकास की धीमी गति का कारण औद्योगिक साहसियो को अनेक प्रकार के कार्यों को करना होता है। एक ओर तो उसे पूँजी की उचित मात्रा का प्रबन्ध करना होता है,दूसरी ओर आर्थिक साहसियो की अपेक्षा अन्य परिस्थितियो के समान रहने पर अनेक जोखिमो का भार उठाना पडता है। औपनिवेशिक देशो मे आर्थिक साहसियो ने प्रभुत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और उन्हें वर्तमान औद्योगिक साहसियो का नेतृत्व करना है।

साहसी का महत्त्व (Importance of Entrepreneur)

आधुनिक युग मे साहसी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी देश की औद्योगिक उन्नति बहुत कुछ सीमा तक उस देश मे पाए जाने वाले साहसियो की कुशलता पर निर्भर करती है। हमारे देश का औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा होने का कारण बिड़ला, टाटा जैसे योग्य साहसियो का बहुत कम होना है। इसके महत्त्व को संक्षेप मे अग्रांकित प्रकार से समझाया जा सकता है—

(1) छोटे या बडे किसी भी व्यवसाय का आरम्भ बिना साहसी के नही हो सकता। प्रत्येक व्यवसाय में कुछ न कुछ जोखिम अवश्य होती है और जब तक इस जोखिम को उठाने के लिए कोई व्यक्ति तत्पर नही होगा तब तक व्यवसाय आरम्भ नहीं होगा।[1]

(2) आधुनिक उत्पादन व्यवस्था मे जोखिम का अंश बहुत बढ गया है। उत्पादन विधियाँ अत्यन्त जटिल हो गई हैं और उनमे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। उपभोक्ताओं की रुचि व फैशन बदलते रहते हैं। इन सब बाधाओं के कारण वर्तमान काल मे व्यवसायो मे अधिक अनिश्चितता हो गई है। ऐसी स्थिति मे साहसी का महत्त्व आधुनिक काल मे काफी बढ गया है।

(3) एक देश का आर्थिक विकास तथा उन्नति एक बडी सीमा तक कुशल एव योग्य साहसियों पर निर्भर करती है। अमेरिका, इंग्लैण्ड इत्यादि देशो मे अधिक मात्रा मे साहसी उपलब्ध हैं, परिणामस्वरूप इन देशो मे आर्थिक उन्नति का उच्च स्तर है। इसके विपरीत भारत जैसे अविकसित देशों मे कुशल व योग्य साहसी कम हैं परिणामस्वरूप इन देशो मे आर्थिक उन्नति का निम्न स्तर है। अतएव यह स्पष्ट है कि साहसी उद्योग की आधारशिला एव प्रधान स्रोत है। वह केवल जोखिम व अनिश्चितता वाहक ही नही होता बल्कि एक प्रबन्धक, भविष्य दृष्टा, आर्थिक निर्माता तथा नई उत्पादन विधियों का प्रयोगकर्ता भी है। उद्योग मे साहसी की महत्त्वपूर्ण एव उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति के कारण ही मार्शल ने उसे उद्योग का कप्तान (Captain of the Industry) कहा है। जिस प्रकार किसी सेना के कप्तान को एक नजर अपनी सेना के सैनिकों के सचालन पर तथा दूसरी नजर शत्रु की कार्यवाहियों पर रखनी पडती है उसी प्रकार साहसी भी एक नजर अपने व्यवसाय की आन्तरिक व्यवस्था पर रखता है व दूसरी नजर अपने प्रतिद्वन्द्वियो की गतिविधियो पर। साहसी मे कुशाग्र बुद्धि होती है, उसमे पूर्वानुमान लगाने की क्षमता भी होती है, इसी कारण उसे Business Prophet भी कहते हैं।

(4) साहसी का महत्त्व नवप्रवर्तन (Innovation) मे भी है। इसका आशय होता है नए-नए उद्योगों के बारे मे चिन्तन और मनन करना। प्रो ड्रकर (Prof. Drucker) के अनुसार व्यवसाय का विकास, विस्तार तथा नवप्रवर्तन मे साहसी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उसके अनुसार व्यवसाय आधुनिक समय मे नवप्रवर्तन के बिना चल नहीं सकता। नवप्रवर्तन आज के युग की प्राथमिक आवश्यकता है।

(5) साहसी का महत्त्व व्यवसाय के प्रवर्तन (Promotion) से भी जुडा हुआ है। व्यवसाय की स्थापना मे साहसी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह पूँजी का अनुमान, उसके प्राप्त करने के विभिन्न स्रोत, कच्चा माल, सरकारी रियायतें आदि बातो की जानकारी करता है और नए व्यवसाय की स्थापना करता है।

(6) साहसी अपने कन्धो के ऊपर साहस लेकर व्यापार का विस्तार (Expansion), विकास (Development) तथा व्यापार की समृद्धि (Prosperity)

1. "He is self risk taker and bearer." —*Mortan D.*

सामान्य नियन्त्रण भी रखता है तथा व्यवसाय के सम्बन्ध में सामान्य नीतियों को निर्धारित करता है।

3. वितरण सम्बन्धी कार्य (Distributive Function)—साहसी विभिन्न उत्पत्ति के साधनो को उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पुरस्कार प्रदान करने का कार्य भी करता है।

एक अच्छे साहसी के गुण
(*Qualities of a Good Entrepreneur*)

एक अच्छे तथा सफल साहसी मे निम्न गुणों का होना आवश्यक है—

(1) एक अच्छे साहसी में दूरदर्शिता का गुण होना आवश्यक है तभी वह व्यवसाय से सम्बन्धित भविष्य की प्रवृतियो का अच्छा अनुमान लगा सकेगा। (2) व्यवसाय की दिन-प्रतिदिन की जटिल समस्याओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि साहसी प्रखर बुद्धि वाला, योग्य तथा अच्छी प्रकार से शिक्षित हो। (3) साहसी मे शीघ्र निर्णय लेने की योग्यता होनी चाहिए। निर्णयो मे देर करने से व्यवसाय मे भारी हानि होने की सम्भावना बनी रहती है। (4) सफल साहसी के लिए आवश्यक है कि उसे व्यवसाय मे सम्बन्धित आवश्यक बातों का विस्तृत ज्ञान हो, नवीनतम आविष्कारो तथा सुधारों की पूर्ण जानकारी हो तभी वह क्रय-विक्रय तथा अन्य बातो के सम्बन्ध मे उचित तथा शीघ्र निर्णय ले सकेगा। (5) साहसी को मानवी प्रकृति का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तभी वह व्यवसाय के लिए योग्य तथा कुशल कार्यकर्त्ताओं को चुन सकेगा। (6) साहसी मे आर्थिक कठिनाइयों को धैर्य-पूर्वक सामना करने की योग्यता होनी चाहिए। (7) साहसी के लिए यह भी आवश्यक है कि वह ईमानदार तथा गम्भीर हो। (8) एक अच्छे साहसी मे उच्च-शिक्षा, तकनीकी ज्ञान तथा अनुभव एव आत्म-विश्वास होना चाहिए। (9) साहसी परिश्रमी, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा सयमी हो एव उसमे दृढता (Persistency) एव समयानुकूल परिवर्तनशीलता का गुण भी आवश्यक है। (10) साहसी को कभी भी हतोत्साहित नही होना चाहिए। "असफलता ही सफलता की कसौटी है" के सिद्धान्त को अपना कर व्यवसायी को सदा अपने लक्ष्य की ओर बढते रहना चाहिए। ज्वार-भाटे की भाँति व्यावसायिक जीवन मे उतार-चढाव आते ही रहते हैं, परन्तु ये सामयिक होते हैं और जो व्यवसायी इनका सामना दृढतापूर्वक कर लेता है उसे सफलता अवश्य मिलती है। अनेक प्राचीन एव वर्तमान दृष्टान्त इस कथन की पुष्टि मे दिए जा सकते हैं। मुहम्मद गौरी का भारत पर सोलह बार असफल आक्रमण करना और सत्रहवी बार सफलता प्राप्त करना एक ज्वलन्त उदाहरण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनेक आधुनिक व्यवसाय की जटिल समस्याओं को केवल ऐसा साहसी ही सुलझा सकता है जो दूरदर्शी हो, उत्साहयुक्त हो, विश्वसनीय हो, मानव-प्रकृति से पूर्ण परिचित हो, प्रण का पक्का हो, गम्भीर हो, मुसीबतों व कठिनाइयो का दृढता से सामना कर सकता हो, जिसमे व्यावसायिक बुद्धि

हो, व्यापारिक अनुभव हो, व्यावहारिक चातुर्य हो, शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लेने की दक्षता हो आदि। ये ही एक सफल, दक्ष तथा योग्य साहसी के मुख्य गुण हैं। मार्शल के अनुसार योग्य साहसियों की पूर्ति पर तीन बातो का प्रभाव पड़ता है— (i) साहसी के स्वाभाविक गुण जो जन्मजात होते हैं, (ii) साधारण शिक्षा और विशिष्ट ज्ञान क्योकि शिक्षा से मस्तिष्क का विकास होता है तथा विशिष्ट ज्ञान व्यावसायिक जानकारी को प्रोत्साहन देता है. (iii) अवसरग्र—पने गुणो का प्रदर्शन तथा इनके उपयोग का अवसर मिलने पर ही एक साहसी उच्च श्रेणी का साहसी बन पाता है चाहे वह बिड़ला हो या टाटा।

QUESTION BANK

1. Discuss the economic and social goals of a business. Do you think that the ethical standard of business has deteriorated in recent years. (1975)
किसी व्यवसाय के आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों का विवेचन कीजिए। क्या आप सोचते हैं कि कुछ वर्षों से भारतवर्ष में व्यवसाय का नैतिक मापदण्ड गिर रहा है ?

2. Discuss the concept of Social Responsibility of Business. What place would you assign to social responsibility in formulating corporate policies. (1975)
व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा का विवेचन कीजिए। कम्पनी की नीतियों का निर्धारण करते समय सामाजिक दायित्व को आप क्या महत्त्व देंगे ?

3. What are the Economic and the Social goals of business firm ? Is there any conflict between these ? (1974)
किसी व्यावसायिक फर्म के आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्य क्या होते हैं? क्या इनमें किसी प्रकार का टकराव है ?

4. What are the reasons for the current emphasis on social responsibilities of business in India ? Suggest some measures for ensuring observance of proper ethical standards by business organisations in the Country. (1973)
व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों पर भारत में आजकल जो बल दिया जा रहा है उसके क्या कारण हैं ? देश में व्यावसायिक संगठनों द्वारा उचित नैतिक मानदंडों का पालन निश्चित करने हेतु कुछ सुझाव दीजिए।

5. Explain what you understand by the concept of social responsibility of businessmen Why should business executives develop a sense of social responsibility? Explain carefully. (1972)
व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व से आप जो कुछ समझते हो, लिखिए। व्यापारिक प्रशासकों को सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना क्यों रखनी चाहिए, सावधानी से समझाइए।

6. How do you determine the price and profit policies of a firm ? What are the important variables to be taken in this respect. (1975)
किसी फर्म के मूल्य तथा लाभ की नीतियों को कैसे निर्धारित करेंगे ? इस सदर्भ में कौन से प्रमुख तत्त्वों को ध्यान में रखते हैं ?

7. What is the difference between price support and price control ? Discuss the conditions under which the policy of price support and price control may be followed. (1974)
मूल्य-समर्थन एव मूल्य नियन्त्रण में क्या अन्तर है? उन परिस्थितियों का विवेचन कीजिए जिनमें मूल्य-नियन्त्रण एव मूल्य-समर्थन की नीतियाँ अपनायी जा सकती हैं।

8. How can price support improve profits of an enterprise ? Discuss the relative merits and demerits of price support policy and price control policy (1974)
एक उद्यम के लाभों को मूल्य सहायता किस प्रकार सुधार सकती है। मूल्य सहायता और मूल्य नियन्त्रण नीति के सापेक्ष गुण-दोषों की विवेचना कीजिए

9. "Profit can *no more be the objective of a business than eating is the* objective of living" Do you agree? Discuss the role of business profits in economic growth (1973)
"लाभ कमाना व्यवसाय का मात्र उतना ही लक्ष्य हो सकता है जितना भोजन करना जीवन का लक्ष्य है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? आर्थिक विकास में व्यावसायिक लाभ की भूमिका का विवेचन कीजिए।

10. Explain the role of price control in national development plans of less developed societies. What kind of *price control* is in force in India? Examine critically. (1972)
कम उन्नत समाजों की राष्ट्रीय विकास योजनाओं में मूल्य नियन्त्रण का स्थान निर्धारित कीजिए। भारत में किस प्रकार का *मूल्य-नियन्त्रण* है ? इसकी आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

11. Distinguish between price support and price control Which of these will you prefer, if necessary, in case of agricultural produce and industrial commodities? *(1971)*
मूल्य सहारा और मूल्य नियन्त्रण में भेद बताइए। आवश्यक होने पर कृषि उत्पादन और औद्योगिक वस्तु के सम्बन्ध में आप इनमें से कौनसा अपनाएँगे ?

12. Suggest ways and means of controlling and public monopolies in India (1975)
भारत में निजी तथा सार्वजनिक एकाधिकार को आप किस प्रकार नियन्त्रित करेंगे ?

13 What do you understand by monopoly? Discuss the various methods for *controlling private monopolies in India* *(1974)*
एकाधिकार से आप क्या समझते हैं ? भारत में निजी क्षेत्र के एकाधिकार को नियन्त्रित करने की विधियों का विवेचन कीजिए।

14 "A business combination is a conspiracy against consumers and it gives rise to monopoly." Discuss the statement in the context of various forms of business combinations. (1974)
"व्यावसायिक संयोजन उपभोक्ताओं के विरुद्ध षड्यन्त्र होता है और यह एकाधिकार को जन्म देता है।" व्यावसायिक संयोजनों के विभिन्न स्वरूपों के सन्दर्भ में इस कथन का विवेचन कीजिए।

15 Distinguish between private and public monopoly. Suggest measures for *control of private monopoly.* *(1973)*
निजी एकाधिकार तथा सार्वजनिक एकाधिकार में भेद बताइए। निजी एकाधिकार के नियन्त्रण के लिए सुझाव दीजिए।

16 Does India's Industrial Economy faces a problem of monopoly? Why are few firms dominant in several industries? Can this situation be improved? (1972)
क्या भारत की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था एकाधिकार की समस्या का सामना कर रही है ? कई उद्योगों में थोड़ी सी फर्मों का क्यों प्रभुत्व है ? क्या इस अवस्था में सुधार किया जा सकता है ?

17. Discuss the social responsibilities of business with special reference to *employment and wage policies.* *(1975)*
रोजगार एवं मजदूरी की नीतियों के सन्दर्भ में व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व का विवेचन कीजिए।

18. "Worker's participation in management has failed" Discuss the statement and suggest the various remedial measures for this. *(1974)*

"प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग लेना असफल हुआ है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा उपचार की विभिन्न विधियाँ सुझाइए।

19. What is meant by 'Industrial Democracy'? How can it be established in Indian Industry? (1974)
'औद्योगिक जनतन्त्र' से क्या अभिप्राय है ? भारतीय उद्योगों में इसकी स्थापना कैसे की जा सकती है ?

20. Discuss worker's participation in management as a means to achieving industrial democracy. (1973)
औद्योगिक जनतन्त्र की स्थापना के माध्यम के रूप में कर्मचारियों द्वारा प्रबन्ध में भाग लेने की पद्धति की विवेचना कीजिए।

21. Explain clearly the concept of 'Industrial Democracy.' How can it be introduced in practice? What are the difficulties in its introduction in India? (1971)
औद्योगिक प्रजातन्त्र का अर्थ समझाइए। इसे कार्यान्वित कैसे किया जा सकता है? भारत में इसे कार्यान्वित करने में कौनसी कठिनाइयाँ हैं ?

22. What is the theory of industrial democracy? Can it be implemented successfully in low-income countries? Discuss with reference to India. (1972)
औद्योगिक प्रजातन्त्रवाद का क्या सिद्धान्त है ? कम-आय वाले देशों में क्या इस सिद्धान्त को सफलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है ? भारत के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए।

23. "In the development of big enterprises a point is reached at which the shareholders are almost entirely dissociated from management with the result that the direct personal interest of the latter in maximising profit becomes secondary." Discuss the statement (1975)
"बड़ी संस्थाओं की प्रगति में एक ऐसी स्थिति आती है जब अंशधारी, प्रबन्ध में लगभग पूर्णतया असम्बद्ध हो जाते हैं और परिणामस्वरूप अधिक लाभ कमाने में प्रबन्धकीय व्यक्तियों की प्रत्यक्ष वैयक्तिक रुचि दूसरे स्तर का महत्व रखती है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

24. "The basic fact is that the large corporations, facing fundamental similar problems, act in fundamentally the same way whether publicly or privately owned. It means the form of ownership of large enterprises is irrelevant." Discuss. (1974)
"बड़ी कम्पनियाँ, चाहे वे सार्वजनिक या निजी स्वामित्व वाली हों एक जैसी आधारभूत समस्याओं का सामना करते हुए, मूलतः एक ही तरह से कार्य करती हैं, यह आधारभूत तथ्य है। इसका अर्थ यह है कि बड़ी संस्थाओं के स्वामित्व का स्वरूप असम्बद्ध है।" व्याख्या कीजिए।

25. Discuss the various problems facing a big business organisation. How can the problem of quality control be solved by such an organisation (1974)
एक वृहत् व्यावसायिक संगठन के समक्ष आने वाली विभिन्न समस्याओं की विवेचना कीजिए। इस प्रकार के संगठन द्वारा गुण-नियन्त्रण की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है ?

26. Do you think that the concentration of economic power in India can be treated to the reparation of ownership from management? Has the abolition of the Managing Agency System helped in easing such concentration? (1973)
क्या आपके विचार में भारत में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का कारण व्यवसाय में स्वामित्व एवं प्रबन्ध का विच्छेद है ? क्या प्रबन्धक एजेन्ट प्रणाली की समाप्ति से इस केन्द्रीयकरण को कम करने में कुछ सहायता मिली है ?

27. What are the reasons of the wide popularity of ownership-management in India? What is the case for professional management? What measures can be taken to professionalise management in India? (1972)
भारत में स्वामित्व-प्रबन्धन की विस्तृत लोकप्रियता के क्या कारण हैं ? पेशेवर प्रबन्धन के पक्ष में उक्तियाँ दीजिए। भारत में प्रबन्धन को पेशेवर बनाने के लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं ?

28. State briefly the problems of big business and make out a case for functionalisation of management. Is management responsible to shareholders or consumers? Give reasons. (1971)
वृहद व्यवसाय की समस्याएँ संक्षेप में बतलाइए और क्रियात्मक प्रबन्ध का प्रतिपादन कीजिए। क्या प्रबन्ध अंशधारियों या उपभोक्ताओं के प्रति जिम्मेदार है। सकारण लिखिए।

29. "The increase in economic concentration has resulted in profound charge in the management of industrial enterprises." Discuss this statement. (1975)

30. The economic concentration has increased in India What policies would you suggest for minimising this concentration? (1974)
भारत में आर्थिक केन्द्रीकरण बढ़ गया है। इस केन्द्रीकरण को न्यूनतम करने के लिए आप कौन-कौनसी नीतियाँ सुझाएँगे।

31. "It is a sin to be big in business in India" Critically examine the statement in the context of law relating to monopolies and the Government policy in this regard (1973)
"भारत में व्यवसाय का वृहत् होना पाप है।" एकाधिकार सम्बन्धित विधान एवं इस सम्बन्ध में सरकार की नीति के सदर्भ में इस कथन का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

32 Do copyrights and trade marks give rise to monopoly? Indicate some steps to ensure fair competition (1974)
क्या प्रतिलिप्याधिकार एवं व्यापारिक चिह्न एकाधिकार को जन्म देते हैं ? उचित (न्यायपूर्ण) प्रतियोगिता की स्थापना के लिए क्या कदम उठाने चाहिए।

33 How far is it correct to say that a dynamic competitive economy works against social ethics? (1971)
आर्थिक गत्यात्मक प्रतिस्पर्द्धा सामाजिक हित के विरुद्ध कार्य करती है, यह कथन कहाँ तक सही है ?

34 How do public monopolies differ from private monopolies? How far is it correct to say that public monopolies tend to be inefficient and private monopolies tend to be exploiting?
सार्वजनिक एकाधिकार खासगी एकाधिकार से किस प्रकार भिन्न है ? यह कहाँ तक सही है कि सार्वजनिक एकाधिकार की प्रवृत्ति अकार्यक्षमता की ओर रहती है और खासगी एकाधिकार की प्रवृत्ति शोषण की ओर।

35 How does a business unit deal with consumer complaints about its product and services? Discuss the role of Public Relations Department in this regard (1974)
अपने माल एवं सेवाओं के विषय में उपभोक्ताओं की शिकायतों का एक व्यापारिक इकाई कैसे निराकरण करती है ? इस सम्बन्ध में जन सम्पर्क विभाग की भूमिका का विवेचन कीजिए।

36. What are the main objectives of public relation activity? Would you suggest the creation of a Public Relation Department in every large industrial organisation? (1973)

जन सम्पर्क कार्य के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं ? क्या आप प्रत्येक बड़े औद्योगिक संगठन में जन सम्पर्क विभाग की स्थापना का सुझाव देंगे ?

37. What are the functions of Public Relation Department ? What conditions are essential for its proper and effective functioning ? Is expenditure on Public Relations activities a waste in India. (1972)
जन सम्पर्क विभाग के क्या कर्त्तव्य होते हैं ? इसके उचित एवं प्रभावपूर्ण प्रचलन के लिए क्या दशाएँ आवश्यक हैं ? क्या जन सम्पर्क के कामों पर किया गया खर्च अपव्यय है ?

38. How does the modern business attend to consumer's tastes, interests and grievances ? (1971)
आधुनिक व्यवसाय किस प्रकार उपभोक्ताओं की रुचि, हित और शिकायतों की ओर ध्यान देता है ?

39. How can the growth of entrepreneurial ability be ensured in India ? Are the present conditions in India favourable to development of business entrepreneurship ? (1974)
भारत में साहसी-योग्यता का विकास किस प्रकार सुनिश्चित किया जा सकता है ? क्या भारत की वर्तमान परिस्थितियाँ व्यावसायिक साहस के विकास के लिए अनुकूल हैं ?

40. How can the growth of entrepreneurial ability be ensured in a mixed economy ? (1973)
मिश्रित अर्थव्यवस्था में साहसी योग्यता का विकास किस प्रकार सुनिश्चित किया जा सकता है?

41. What do you understand by entrepreneurship ? What factors govern its growth ? Suggest measures encouraging enterprise in India. (1972)
साहसवादिता से आप क्या समझते हैं ? इसकी वृद्धि किन बातों पर निर्भर करती है ? भारत में साहस को प्रोत्साहित करने के लिए उपाय बताइए।

42. "Capitalism encourages entrepreneurial ability and socialism discourages it, socialism encourages social responsibility and capitalism discourages it." Discuss. (1971)
"पूँजीवाद साहसी क्षमता को बढ़ावा देता है और समाजवाद इसे निरुत्साहित करता है; समाजवाद सामाजिक उत्तरदायित्व को बढ़ावा देता है और पूँजीवाद निरुत्साहित करता है।" विवेचना कीजिए।

43. How can social control over business be exercised ? What has been done in this regard in India ? (1974)
व्यवसाय पर सामाजिक नियन्त्रण किस प्रकार किया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में भारत में क्या किया गया है, बताइए।

44. Explain the system of regulation and control of private industrial firms in India Do you consider it to be in the best interests of the country? (1972)
भारत में निजी औद्योगिक उपक्रमों के नियन्त्रीकरण एवं अधिकार की प्रणाली समझाइए। क्या आपके मत में यह देश के अधिकतम हित में है ?

45. Make out a case for regulation of private industry and recommend techniques of state control. Which technique will you prefer for prescribed university text-books ? (1971)
खासगी उद्योग के नियम का समर्थन कीजिए और राज्य नियन्त्रण की प्रविधियाँ (Techniques) सुझाइए। विश्वविद्यालय निर्धारित पाठ्य-पुस्तकों के लिए आप कौनसी प्रविधि पसन्द करेंगे।